सिद्धयोग

संस्थापक

योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं अध्यात्म का
प्रतिपादक मासिक

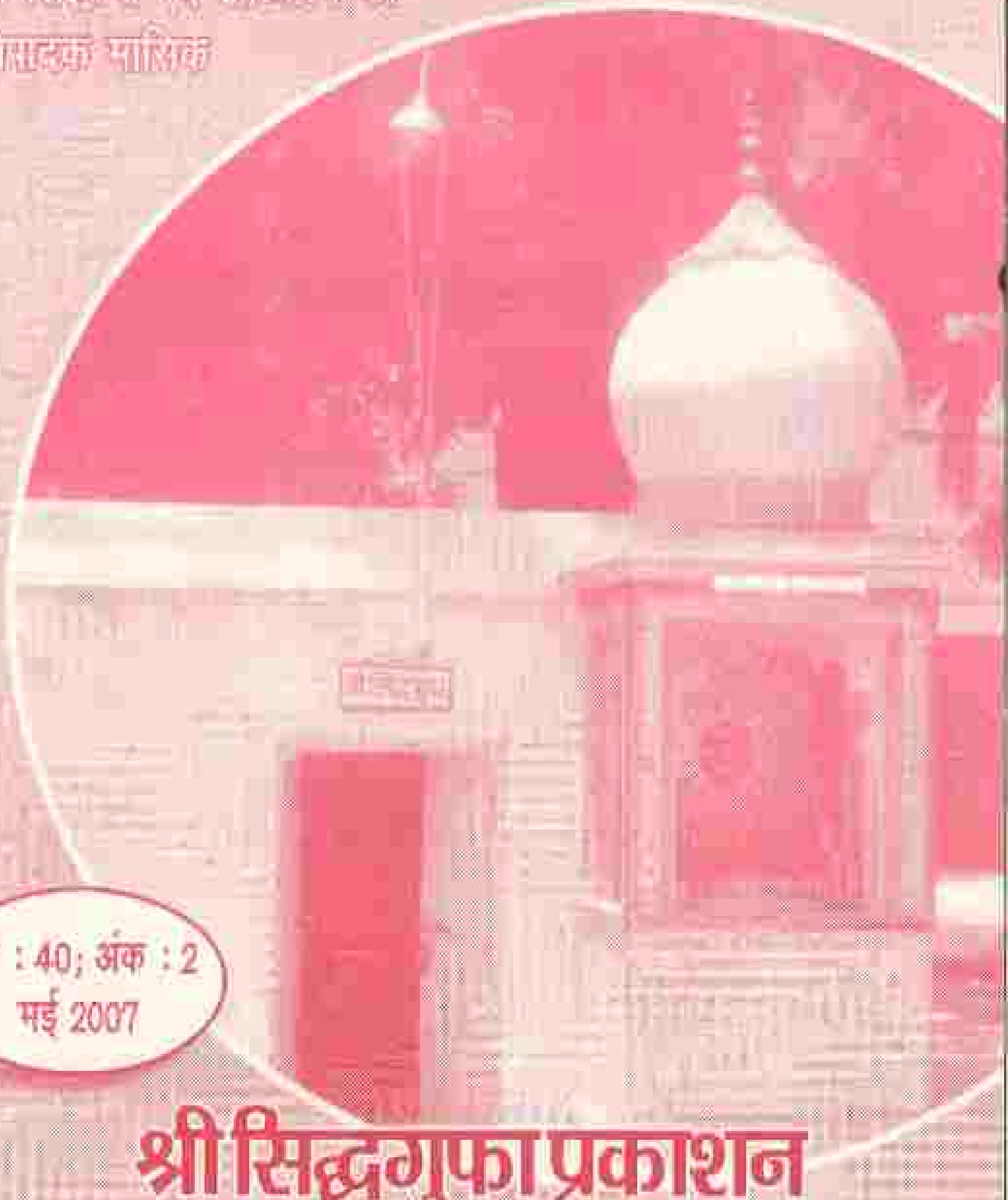

वर्ष : 40; अंक : 2
मई 2007

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँइ-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत-कण

चित्तः कारणमर्थानाम् तीस्मिन्नरित जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः।।

विषयों का कारण चित्त है। चित्त में ही तीनों लोक विद्यमान हैं। चित्त क्षीण होने पर जगत भी क्षीण हो जाता है। अतः चित्त क्षीण होने पर उसकी तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये।

• • •

नैकः सुखी न सर्वत्र विश्वस्तो न च शंकितः।
नोद्यमे विरमेत्क्वापि हेतीर्वीर्ष्यांत्फले न तु।।

(भावप्रकाश 5/258)

अकेले सुख का उपभोग न करके दूसरों को सुख भोग कराते हुए स्वयं सुख भोगना चाहिये। सबके ऊपर विश्वास या संदेह करके सोच समझकर उचित व्यवहार करना चाहिये। उद्योग करना न छोड़े और दूसरे की उन्नति और सम्पन्नता से ईर्ष्या न करे।

• • •

अन्तः सारविहीनानामुपदेशो न जायते।
मलयाऽचलसंसर्गात् न वेणुश्चन्दनायते।।

(चाणक्य नीति)

भीतरी योग्यता से हीन मलिन हृदय वाले मनुष्यों पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं होता, जैसे मलयगिरि से आने वाली पवन के स्पर्श से भी बाँस चन्दन में परिवर्तित नहीं हो जाता।

• • •

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भार्या भर्त्ता तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं सर्वम् तद् रोचते गृहम्।।

(मनु स्मृति)

जिस परिवार में पत्नी से पति खुश रहता है और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है, तो वहाँ सब प्रकार से सुख सम्पत्ति का वास रहता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 40
अंक : 2

मई
2007

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूसा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

यजुर्वेद 25/19

अर्थात्

परम ऐश्वर्यवान एवं यशस्वी परमेश्वर हमारा कल्याण करे। विश्व का पोषण करने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर हमारा कल्याण करे। परम तेजवान एवं समस्त दुःखों का नाश करने वाला परमेश्वर हमारा कल्याण करे। सब पदार्थों का स्वामी और ज्ञान का भंडार परमेश्वर हमारा कल्याण करे।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में....

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	'सम्पादकीय'	8
3.	शरीर विकास से यौगिक क्रियायें – डॉ. जे.पी. शर्मा	10
4.	क्रियायोग – डॉ. जे.एन. राय	13
5.	उपनिषतत्व – श्री अशोक दिग्विजय	16
6.	दुर्गा पूजा – श्री वृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर	20
7.	गुरु महिमा – श्री अंशुमान देव मालवीय	22
8.	गुंजन – डॉ. विजय सिंह	23
9.	गुरुचरणों में आने का भाव – श्री कुन्दनलाल सचदेवा	24
10.	पूज्य दादा श्री रामाश्रयजी	27
11.	परमात्मा से अपना नाता जोड़ो – ब्र. ओमप्रकाश	30
12.	दादा गुरुदेव द्वारा पागल को ठीक करना – श्री केशवदेव उपाध्याय	33
13.	दयादृष्टि कर ओ दाता – श्री जगदीशराय बंसल 'अधम'	35
14.	स्वास्थ्य चर्चा : आरोग्य प्राप्ति की केवल इच्छा ही पर्याप्त नहीं	36

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 120.00
द्विवार्षिक	: रु. 210.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

• विशेष लेख

सत्संग एवं सिद्धयोग

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सत्संग शब्द का क्या अर्थ है, इसके विषय में सर्वसाधारण में गलत धारणा है कि जहाँ पर दस-बीस व्यक्ति मिलकर किसी भी प्रकार का भगवत् गुणानुवाद गायन, भजन-संकीर्तन, कथा-प्रसंग आदि करते हैं, एतावत् मात्र क्रिया कलाप को ही वे सत्संग कहा करते हैं। वैसे हमारे शास्त्रों में सत्संग की महिमा बहुत प्रकार से वर्णित है। जगदात्मा अखिल लोक पावन श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत् के ग्यारहवें स्कन्ध में सत्संग की महिमा को बताते हुए दो श्लोकों में इस प्रकार कहा है:-

न रोधयति मां योगो, न सांख्य धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, नेष्टा पूर्तं न दक्षिणा ।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि, तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः, सर्व संगापहो हि माम् ।।

भगवान ने पहले तो 'न रोधयतिमाम् योगः' अर्थात्-योग मुझे खुश नहीं कर सकता, ये शब्द कह कर अपनी प्राप्ति के साधनों में सत्संग की अपेक्षा योग को भी उत्कृष्ट साधन नहीं माना। पाठकगण अपने मन में यह विचार करते होंगे कि पूर्ण-योग योगेश्वर अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने योग को अपने मुख से अपेक्षाकृत अपनी प्राप्ति का गौण साधन मान लिया। पर यह बात यथार्थ नहीं है। सत्संग किस वस्तु का नाम है, यह अभी कुछ पंक्तियों के बाद ही हम समझा देना चाहते हैं कि वस्तुतः साधक को सत्संग के द्वारा ही अपने ध्येय भूतयोग की प्राप्ति हुआ करती है। भगवान का यह कहना 'न रोधयति माम् योगः' केवल मात्र साधनयोग का ही संकेत है। भक्त लोग भगवान का गुणानुवाद करते हुए प्रायः गाया करते हैं:-

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनाम् हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद ।।

अर्थात्- मैं न वैकुण्ठ में रहता हूँ और नहीं योगियों के हृदय में रहता हूँ, किन्तु जहाँ पर भक्त लोग मेरा गायन किया करते हैं वहीं मैं रहा करता हूँ। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान ने भक्तों के अधीन होकर अपने दिव्य लोक वैकुण्ठ को एवं योगियों के हृदय को छोड़ दिया। यथार्थ में तो उनके रहने का स्थान उनका वैकुण्ठ लोक एवं हमेशा समाधिस्थ रहने वाले योगियों का हृदय ही है, किन्तु भक्तों के गायन में भी मेरा उत्कृष्ट आकर्षण है और इनके प्रेम एवं हृदय के भाव से परिपूर्ण उनके गायन में भी मैं आया करता हूँ यही इसका सांकेतिक अर्थ है। वास्तव में तो योगियों का हृदय एवं वैकुण्ठ ही उनके निवास का स्थान है। इसी प्रकार से इस श्लोक

में उनकी प्राप्ति के जितने साधनों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है उन सबको गौण बतलाकर सत्संग की ही प्रमुखता बतलायी गयी है। सांख्यशास्त्र का विवेचनात्मक सिद्धान्त भगवान को सत्संग की अपेक्षा प्रिय नहीं है। थोड़ी देर के लिए हम विचार करें। इन दो श्लोकों के अन्दर जगदात्मा श्रीकृष्ण ने प्रायः अपनी प्राप्ति के सभी साधनों को न के बराबर गौण बताकर सत्संग की प्रधानता का वर्णन किया है। इन श्लोकों के पहले चरण के अन्दर 'न रोधयति मां योगः' कह कर योग का गौण रूप से वर्णन किया है। वैसे तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के जीवन चरित्र को हम उठाकर पढ़ें तो उनका पूरा जीवन योगमय है और उन्होंने अपने प्रत्येक लीला-चरित्र से संसार को योग का पाठ पढ़ाया है। उनके जीवन की एक-एक घटना यौगिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। श्रीमद्‌भागवत् के इन दो श्लोकों के अतिरिक्त और भी जितने उन्होंने उपदेश दिये वे सब योग-परक हैं और समझने वाले विद्वज्जनों के लिए तो दो श्लोक ही योग की पूर्णतम महत्ता को बतलाते हैं। भगवान ने गीता में अर्जुन को योग की महत्ता बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है कि:-

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

अर्थात्- हे अर्जुन! योगी का दर्जा ज्ञानी, तपस्वी एवं कर्मकाण्डी सभी की अपेक्षा परमोत्कृष्ट है। इसलिए तू योगी बन।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परम् स्थानमुपैति चाद्याम्।।

अर्थात्- वेद में, यज्ञ में, तप में, दान आदि में जो पुण्य फल कहा है योगी उन सबको पार करके आदि परम स्थान को प्राप्त हुआ करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सांख्य योग और योग का वर्णन गीता के अन्दर मिलता है वहाँ पर भी भगवान ने योग की महिमा का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है:-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म, न चिरेणाधिगच्छति।।

-गीता

अर्थात्- हे अर्जुन! बिना योग के सन्यास को प्राप्त करना बहुत कठिन है और योग युक्त मुनि ब्रह्म को बहुत जल्दी पा जाता है। इसलिए योग ही परम श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन तुम्हें योग प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरा साधन आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए सांख्य योग का अभ्यास है। इसका भी संसार में बहुत बड़ा प्रचार है, किन्तु भगवान ने सांख्य शास्त्र के इस विवेचनात्मक सिद्धान्त को भी सत्संग का अपेक्षा नाम मात्र के बराबर गौण बतला दिया।

ईश्वर प्राप्ति का तीसरा साधन स्वाध्याय है। भगवान पतंजलि देव जी अपने योगदर्शन में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि-

'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः'

इस सूत्र का भाष्य करते हुए श्री व्यासदेव जी निम्नांकित पंक्ति लिखते हैं–

देवा ऋषय: सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं यच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

ऋषि, मुनि एवं देवता लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने जाया करते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। हमारे शास्त्र हमें स्पष्ट निर्देश करते हैं–

स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात्– मनुष्य को चाहिए स्वाध्याय के बल से इष्टदेव का साक्षात्कार कर ले। स्वाध्याय से योग की प्राप्ति हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति के द्वारा परमात्मा का प्रकाश हो जाता है, किन्तु जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने यहाँ पर स्वाध्याय की साधना को भी सत्संग की अपेक्षा न के बराबर माना है।

चौथा साधन हमारे शास्त्र बतलाते हैं– 'तप'। ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवताओं ने मौत को जीत लिया।

तप से परमात्मा पहचाना जाता है। तप एवं स्वाध्याय के द्वारा ही ध्रुव आदि ने ईश्वर का साक्षात्कार किया, किन्तु भगवान ने स्वाध्याय की उत्कृष्ट महिमा बतलाते हुए पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में यह कहा है कि तप भी उनको रिझाने का उत्कृष्ट साधन नहीं है। पाँचवा–त्याग को भी अपनी प्राप्ति का साधन नाममात्र के बराबर ही दिखलाया है। वैसे श्रीमद्भगवद्गीता में **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**:–त्याग से शाश्वत् शान्ति को प्राप्त कर लेता है, यह कहकर के त्याग को भी अपनी प्राप्ति का एक साधन माना है। किन्तु यहाँ पर त्याग की अपेक्षा सत्संग की उत्कृष्टता को समझाया है।

छठा स्थान इष्टा–पूर्त और दक्षिणा का है। इष्टा–पूर्त और दक्षिणा का अर्थ है– कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि बनवाना जिनके द्वारा परम पुण्य की प्राप्ति हुआ करती है। जगदात्मा ने इन सभी साधनों को बिल्कुल न के बराबर माना है। इसके अतिरिक्त बड़े–बड़े व्रतों को करना, वेद–पाठ का सुनना, यज्ञ करना। यह सब सत्संग की अपेक्षा गौणरूप रूप से वर्णित है।

इस सबका कारण क्या है? क्या योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कभी अपनी प्राप्ति के सभी साधनों को इसी प्रकार से निरोधात्मक रूप से कह सकते हैं? सत्संग की अपेक्षा उन्होंने साधना व अभ्यास रखने वाली श्रेणी को बहुत ही गौण रूप से कहकर सत्संग की उत्कृष्टता बतलायी है। वस्तुतः ठीक ढंग से विचार करके देखा जाय तो 'सत्संग' शब्द का अर्थ ही योग है। जिस प्रकार से योगदर्शन में यम–नियम आदि अष्टांग योग के साधनों को योग की बहिरंग साधना कहकर उनका दर्जा गौण रख दिया है। इसी प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति के लिये योग के अतिरिक्त और भी जितने साधन हैं वे सब ईश्वर की प्राप्ति के साधन भूत हैं और साधन मनुष्य के पुरुषार्थ से ही उपलब्ध हुआ करते हैं। साधन करता हुआ मनुष्य परमात्मा को पा जाता है। इसमें कोई शंका की बात नहीं, किन्तु कोई पुण्यात्मा जीव अपनी विविध प्रकार की साधनाओं से महान पुण्य एकत्र करके यदि 'सिद्धयोग' का विद्यार्थी बन जाता है और सत्पुरुषों का संग प्राप्त कर लेता है तब यह

साधना उपरोक्त साधनों की अपेक्षा बहुत ही परमोत्कृष्ट है क्योंकि सत्संग शब्द का अर्थ है–

सतां महतां सत्पुरुषाणां संगः।

अर्थात्– सत्पुरुषों का संग ही सत्संग है। सत्पुरुषों के संग से साधक हर समय शक्ति ग्रहण करता रहता है। वैसे तो संसार का हर प्राणी हर प्राणी से शक्ति प्राप्त करता रहता है किन्तु शक्ति दे वही सकता है जिसने अपने अन्दर शक्ति का संचय पूर्णरूपेण कर लिया है। एक व्यक्ति किसी को आँख से देखता है तो वह आँखों के द्वारा अपने दर्शनीय भूत व्यक्ति पर शक्तिपात करता है। इसके अतिरिक्त यदि योगी वाणी से कोई शब्द कहता है तो वह वाणी के द्वारा शक्तिपात करता है। किसी का स्पर्श करता है तो वह स्पर्श के द्वारा शक्तिपात करता है। हमारे पाठकों ने अच्छी प्रकार से अनुभव किया होगा कि संसार में कोई दुःखी प्राणी अपने दुःख से आक्रान्त होकर चिल्लाता है, रोता है तो उसको सान्त्वना देने के लिए उसके बड़े–बूढ़े उसके पास जाते हैं और उसके सिर पर कर–स्पर्श करते हैं। उनके प्यार व कर–स्पर्श से वह व्यक्ति शान्ति का अनुभव करता है। यह एक प्रकार का शक्ति का ही प्रभाव होता है। जिसकी जितनी शक्ति बढ़ी होती है उतना ही वह मनुष्य दूसरों को शक्ति दे सकता है। यह तो लौकिक प्रवाह है। लोक में हर व्यक्ति जब इस प्रकार से शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तो जो लोग महापुरुषों के संग में रहने वाले हैं वे लोग कितनी शक्ति को ग्रहण करते रहते होंगे इसका कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता क्योंकि महापुरुष पूर्णरूपेण सिद्ध हुआ करते हैं और सभी प्रकार की शक्तियों से हर समय सम्पन्न रहा करते हैं। इसलिए उनकी हर क्रिया से हर समय शक्तिपात होता रहता है। जो जन–साधारण के कल्याण का बहुत बड़ा साधन बनता है। बिना शक्तिपात के किसी का पूर्णरूपेण अभ्युत्थान होना असम्भव सी बात है। उपनिषदों में यह स्पष्ट उल्लेख है –

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात्पापाच्च फलमाप्यते।
इदृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।।
पश्चात्पुण्येन लभते, सिद्धेन सह सङ्गतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया, योगी भवति नान्यथा।।

अर्थात्– शरीर छूट जाने के बाद योग रहित शाब्दिक ज्ञानियों को भी पाप–पुण्य का फल भोगना पड़ता है और इस प्रकार के पाप–पुण्य के संस्कारों को भोगकर ज्ञानी लोग पुनः संसार में जन्म लिया करते हैं और उसके बाद पुण्य के प्रभाव से इन लोगों को सिद्ध गुरु की संगति प्राप्त होती है। सिद्ध–गुरु की संगति को पा करके ये लोग योगी बनते हैं, तब संसार चक्र नष्ट होता है। उससे पहले किसी भी प्रकार से उनका संसार–चक्र नष्ट नहीं होता। यहाँ पर इन श्लोकों में बड़े–बड़े ऊँचे ज्ञानी को भी संसार चक्र से निवृत होने के लिए सिद्ध–संगति की आवश्यकता घोषित हुई। इसलिए जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण जी ने सत्संग की महिमा का इतना बड़ा वर्णन किया है। सत्संग शब्द का अर्थ हम पहले ही लिख चुके हैं।

सत्पुरुषों व महापुरुषों का संग ही सत्संग कहलाता है। ज्यों ही मनुष्य को सत्पुरुषों की संगति मिलती है और सत्संगति प्राप्त करने वाला यदि पुण्यात्मा होता है तो उससे इस प्रकार की चेष्टायें बन जाती हैं जिनसे परिपूर्णतम सर्वसमर्थ सिद्ध गुरु का हृदय प्रसन्न हो जाय और

प्रसन्नता में उनका जो संकल्प बनता है वही उसके कल्याण का मूल स्त्रोत बन जाता है। सिद्धों के संकल्प में ही सकल कल्याण निहित है। जो जीव सिद्धों की संगति करते हैं वे यदि पुण्यात्मा हो तो उनके द्वारा गुरुदेव के मनोनुकूल उचित व्यवहार, सेवादि स्वाभाविक सम्पन्न हो जाता है। उसकी उस विनम्रता और सेवाओं को देखकर गुरुदेव के मन में उसके प्रति ऊँचा शुभ संकल्प बनता है जिसके कारण वह व्यक्ति समाहित चित्त हो जाता है, स्वयं तर जाता है और दुनिया को तारने वाला बन जाता है क्योंकि समर्थ पुरुषों की हरेक क्रिया से उसमें बार–बार शक्ति संचरित होती रहती है। गुरुदेव का बार–बार आल्हादपूर्वक शक्ति संचार करना उनके अभ्युत्थान का कारण बन जाता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने–**यथावरुन्धे सत्संगः, सर्व संगापहो हि माम्।** – ये शब्द सत्संग की महिमा में कहे हैं।

श्री प्रभु चरणों में समर्पित

राजेश कुमार सिंह, बलिया

धर्म सहित यह जीवन बीते, ऐसा दो वरदान,
दया करो हे दयानिधि, प्रभु रामलाल भगवान।

भू पर जब से आया हूँ, रागद्वेष अपनाया हूँ,
काम–क्रोध व लोभ मोह का, एक अनोखा साया हूँ,
जप, तप, पूजा, ध्यान, योग का, मैं बैरी नादान,
दया करो हे......

जग की सारी बुराई का, मैं ही हूँ भण्डार प्रभु,
हट्टा–कट्टा तन ये मेरा, दुष्टों का सरदार प्रभु,
मन की देवी गणिका मेरी, ब्रह्म से हूँ अन्जान,
दया करो हे......

बोझ पाप का सिर पे लेकर, घूम रहा संसार,
योग का मन्दिर राह में आया, सिद्धगुफा के द्वार,
रज–कण उड़के मुख में पहुँचे, दूर किया अज्ञान,
दया करो हे......

गीध, अजामिल, भिलनी को, बैकुण्ठ में बैठाये हो,
मुझको पार लगाने में, इतनी देर लगाये हो,
'राजेश' शरण में आया है, कर दो अब कल्याण,
दया करो हे......

• सम्पादकीय

प्राण साधना व समाधि

प्राण जीवधारियों में आत्मतत्व की स्थूल अभिव्यक्ति है। जब तक प्राणों का आवागमन रहता है प्राणी चेतन कहा जाता है, आवागमन के अभाव में प्राणी मृत कहा जाता है, किन्तु समाधिस्थ योगी इसके अपवाद होते हैं। प्राणों के आवागमन से ही शरीर की समस्त क्रियायें चल रही हैं। शरीर का तापमान, रक्त का संचार, भोजन का परिपाक आदि–आदि क्रियायें प्राण के आवागमन से ही सम्भव है। प्राण सूर्य की ही एक इकाई है जो प्राणियों में रहा करती है। सूर्य समस्त संसार के प्राणियों की आत्मा है। पुरुष सूक्त के अनुसार विराट पुरुष के श्रोत्र से वायु तथा प्राण की उत्पत्ति हुई है– '**श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च**'। प्राण के रहते ही चित्त वृत्ति चलती है, आध्यात्म की आधारभित्ति प्राणों की साधना मानी गई है। समाधि प्राप्ति के मुख्य उपाय के रूप में प्राणों का निरोध तथा वासना का शमन कहे गये हैं। प्राण दमन में से किसी एक के वश में कर लेने पर दूसरा भी स्वतः वश में हो जाया करता है। इसलिये योग शास्त्र में कहा गया है कि जिस प्रकार से हाथी इत्यादि बलवान प्राणियों को धीरे–धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार से प्राणवायु को धीरे–धीरे वश में करे।

प्राणायाम को सबसे बड़ा तप माना गया है। '**तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानाम् दीप्तिश्च ज्ञानस्य**' (योग भाष्य 2/52) अर्थात् प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है क्योंकि इसी से मल शोधन होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति भी होती है। प्राचीन काल में ही हमारे धर्माचार्य ऋषियों ने प्राणायाम को धर्म एवं आध्यात्म को अभिन्न अंग के रूप में मानकर संध्या वंदन आदि नित्यकर्मों में इसे जोड़ा है। प्राण ही भगवान् शिव, श्री विष्णु तथा ब्रह्मा कहे गये हैं। सब लोकों को प्राण ने ही धारण कर रखा है। इसलिये सारा संसार प्राणमय–प्राण से व्याप्त कहा गया है। यदि प्राण को वश में कर लिया जाये तो मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। जिसका प्राण पर जय हो जाता है वह सद्यः मुक्तिलाभ प्राप्त कर लेता है। यह जीव बद्धावस्था में प्राण और अपान वायु के वश में रहने के कारण नाभिमण्डल में ऊपर–नीचे, दायें–बायें भ्रमण करता रहता है। हमारे चित्त की प्रसार भूमियाँ ये नाड़ियाँ ही हैं। इसलिये नाड़ी शोधन पर विशेष बल दिया जाता है। कुण्डलिनी जागरण में प्राणायाम की परमोपादेयता बताई गई है। प्राणायाम के अभ्यास से ही साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है। प्राणायाम का अभिप्राय सत्व–गुण को बढ़ाता है जिससे साधक में लघुत्व एवं प्रकाशकत्व आता है। प्राणायाम से योगी अन्तर्जगत या सूक्ष्म जगत में प्रवेश पाता है। महर्षि पतञ्जलि जी महाराज ने प्राणायाम का फल बताते हुये कहा है–'**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**' अर्थात् प्राणायाम से प्रकाश के मार्ग का आवरण दूर हो जाता है जिससे योगी में दूरदर्शन, दूरश्रवण की योग्यता आती है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों में अलौकिक शक्ति आ जाती है। गुरुदेव भगवान के शिष्य सरदार सिंह हुए हैं, जिन्होंने तपपूर्वक प्राणायाम की साधना की। जिसके फलस्वरूप उनमें दूर-दर्शन, दूरश्रवण आदि–आदि अलौकिक सिद्धियाँ प्रकट रहती थी। गुरुदेव भगवान ने अपने गृहस्थ भक्तों को प्राणायाम की गहन साधना की आज्ञा नहीं दी है। प्राणायाम का साधक महावीर्यवान तथा परम गुरुभक्त होना चाहिये। प्राण को धारण करने की क्षमता न होने पर

जो बलपूर्वक प्राणायाम करने का दुस्साहस करते है उन्हें नाना प्रकार के रोग घेर लिया करते है। अल्प वीर्य वाले व्यक्ति यदि प्राणायाम करते है तो वे दमा, श्वांस, कास, प्रमेह आदि कई असाध्य रोगों से ग्रसित हो जाते है। नाना प्रकार के कफजन्य रोग उत्पन्न हो जाया करते है। ऐसी स्थिति में श्वास–प्रश्वास की गति पर नियंत्रण नहीं रह पाता तथा एकाग्र भी नहीं हो सकता।

योगियों ने प्राण को 'हंस' भी कहा है, यह हंस ही आत्मा है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय हंस की ही अवस्था होती है। यह प्राण रूपी हंस नासिका के वाम व दक्षिण मार्ग से छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है। इसलिये वायु को ही प्राण कहते है। जितना–जितना मन एकाग्रता की ओर जायेगा प्राण भी सूक्ष्म होते चले जायेंगे। चित्त की एकाग्रता बढ़ती चली जायेगी। योग साधक को अपने प्राण को सतोगुणी व तेजस्वी बनाना चाहिये। प्राणायाम तथा ध्यान से प्राण सतोगुणी बनते है। जब प्राण सतोगुणी हो जाते है तो श्वास–प्रश्वास में चमकीले व तेजोमय परमाणु निकलते है जो एकाग्रता एवं ज्ञान के प्रदाता होते है। रजोगुण की अधिकता में श्वासों में लाल वर्ण के परमाणु निकलते हैं और तमोगुण में कृष्णवर्ण के परमाणु रहा करते है। परमाणुओं की स्थिति को ध्यान योग के द्वारा जानकर किसी भी साधक की आध्यात्म प्रगति को जाना जा सकता है। सतोगुण की प्रबलता में ही साधक में लघुता एवं अन्तःकरण में प्रकाश एवं निर्मलता रहती है। नियमित जीवन तत्व साधना का अभ्यास करते रहने से भी प्राण पुष्ट व बलिष्ठ होते है। इससे भी प्राणों की गति को इच्छानुसार नियन्त्रित रखा जा सकता है।

प्राण साधना में 'अजपा' साधना का बहुत महत्व है। यह पद्धति गुरुगम्य है। यही 'अक्षर ब्रह्म' की साधना है। इसमें श्वासों के आवागमन पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। उपनिषदों में इस साधना का उल्लेख मिलता है, 'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशते पुनः' अर्थात् हकार से श्वास बाहर आता है तथा सकार से पुनः प्रवेश करता है। इस विधि को गुरु मुख से सुनकर, उपदेशित होकर ही साधना करने से लाभ होता है। शास्त्रों में सांकेतिक विधा से सभी विधाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु गुरु मुख से श्रवण करके ही अभ्यास करना चाहिये। शास्त्र से मात्र पढ़कर साधना करने से अभीष्ट लाभ नहीं होता। 'अजपा' साधना ही आत्ममन्त्र व हंसमन्त्र की साधना है। जिसको यह साधना सिद्ध हो उसी गुरु से उपदेश प्राप्त करने पर गुरु की शक्ति का संचार शिष्य पर होता है और वह आध्यात्म में उन्नति पाता है। इसलिये जिसे समाधि में प्रवेश चाहिये उसे सिद्ध गुरु से पद्धति प्राप्त करके साधना करनी चाहिये और अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिये।

आत्म विकास हेतु संकीर्ण स्वार्थपरता का त्याग आवश्यक है। मनुष्य क्षुद्र नहीं महान होना चाहिये। उसके चिन्तन एवं प्रयास सार्वजनिक हित के लिए होने चाहिये। अन्तःकरण संवेदनशील होना चाहिये। वर्तमान हेय या सामान्य स्थिति को किस प्रकार श्रेष्ठजनों के अनुरूप अभिनन्दनीय, अनुकरणीय बनाया जाये? उसकी रूपरेखा बनाना और उसे कार्यान्वित करना ही आत्म पर्यवेक्षण का उद्देश्य है।

शरीर विकास से यौगिक क्षमतायें

डा० जे० पी० शर्मा, पाँटा साहिब (हिमाचल प्रदेश)

हमारा मानव शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक शरीर निर्माण व क्षरण की प्रक्रियायें चलती रहती है। जन्म लेते ही बच्चा अपनी माता पर पूर्णरूप से आश्रित रहता है। बच्चे की माता ही शिशु के आहार, स्वास्थ्य, निद्रा, स्नान इत्यादि की देखभाल करती है। उत्तरोत्तर जैसे–जैसे बच्चा बढ़ने लगता है, तो वह कुछ क्रियायें स्वयं भी करना सीख जाता है। धीरे–धीरे माता की निर्भरता प्रायः बड़ा होने पर कम होती जाती है क्योंकि उसके शरीर का विकास होता चला जाता है और उसके साथ ही बच्चे में आत्मनिर्भरता आने लगती है।

मानव शरीर प्रायः स्थूल और सूक्ष्म दोनों में विद्यमान होता है। लौकिक रूप से स्थूल शरीर की ही प्रधानता कही गई है। कभी–कभी लोग शरीर को ही आत्मा कहने लगते हैं जबकि दोनों में काफी भिन्नता है। वैसे व्यावहारिक दृष्टि से शरीर ही प्रमुख है। शरीर भौतिक है जो स्पष्ट देखने में भासित है, जबकि आत्मा अभौतिक, अदृश्य तथा सूक्ष्म है। अतः मानव शरीर को पूर्ण रूप से जानने हेतु सात भागों में बाँट सकते हैं –

1. **भौतिक शरीर** – शरीर जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसे स्थूल शरीर भी कहते हैं। जन्म से सात वर्ष की आयु तक स्थूल शरीर का विकास होता है। शारीरिक विकास के अतिरिक्त अन्य किसी तरह का विकास बच्चे में नहीं होता। बुद्धि तथा भावना में परिवर्तन नहीं हो पाता। बहुत से व्यक्ति शारीरिक विकास को ही पूर्ण विकास मानने की गलती करते हैं, अतः भ्रमवश बुद्धि के विकास से वंचित रह जाते हैं। इसी तरह भावनाओं का विकास भी सात वर्षों तक नहीं हो पाता।

2. **भाव शरीर**:– इसे आकाश शरीर भी कहा जाता है। इस शरीर का विकास बच्चे की सात से चौदह वर्ष की आयु तक होता है। जो बच्चे शरीर की भौतिकता में रुचि लेते हैं उनमें प्रायः भाव शरीर अविकसित ही रह जाता है। यह विकास पशु की भाँति कहा गया है। पशुओं में भौतिक विकास की प्रधानता रहती है। इसी कारण बच्चों में प्रायः बुद्धि विकास, विवेकशीलता की कमी रह जाती है। ऐसे मनुष्यों में विलासिता, कामुकता, दुर्व्यसनता अधिक पाई जाती है।

3. **सूक्ष्म शरीर**:– सूक्ष्म (एस्ट्रल) शरीर का विकास काल चौदह से इक्कीस वर्ष की आयु तक होता है। शरीर में विचार, बुद्धि, तर्क शक्ति, विकसित होने लगती है। मनुष्य में यौन परिपक्वता के साथ अगर बुद्धि का अपेक्षित विकास होता है तो मानना चाहिये कि आयु के अनुसार विकासक्रम ठीक से चल रहा है। कुछ लोगों में इस अवधि में ज्यादा विकास होता है उसे विशेषता माना जाना ही उपयुक्त है। कुछ लोगों में विकास भौतिक भाव और सूक्ष्म शरीर तक होकर रह जाता है तथा वे आगे बढ़ ही नहीं पाते। इसी कारण उनका मानस शरीर अविकसित रह जाता है। अपने जीवन की पूर्णता तीनों शरीरों के विकास में ही मान लेते हैं।

4. **मनस शरीर**:– मैंटल बोडी या मानस शरीर के विकास की अवधि इक्कीस से

अट्ठाइस वर्ष है। बहुत से लोग इस का लाभ पूर्णतः नहीं उठा पाते तथा उनके शरीर अपूर्ण ही रह जाते हैं। इसका विकास होने से मनुष्य अनेकों यौगिक क्रियायें करने में सक्षम हो जाता है। पर काया प्रवेश बिना काया के भ्रमण करना, दूसरों के मन की बात जानना, हजारों-लाखों मील दूरी के दृश्य देख लेना, भविष्य में घटने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी करना इत्यादि में समर्थता प्राप्त करने की शक्ति विकसित हो जाती है। टेलीपैथी, हिप्नोटिज्म, मैस्मेरिज्म आदि में सिद्ध हो जाता है। इस शरीर के विकसित होने से मनुष्य अद्‌भुत शक्तियों का स्वामी बन जाता है। अगर इन शक्तियों का उपयोग दूसरों के उपकार में करता है तो परोपकारी कहलाता है, किन्तु दूसरों को हानि पहुँचाता है तो अपने को ही अधोमार्ग में ले जाता है। अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारता है तथा फलीभूत नहीं हो पाता। चौथे शरीर के विकास के कारण ही कुण्डलिनी जागरण तथा चक्रभेदन की क्रियायें शरीर द्वारा सुचारूरूपेण हो जाया करती है। कुण्डलिनी क्या है?:-

कुण्डलिनी कुटिला कारा, सर्पवत्परिकीर्तिका।
साशक्तिश्चालिता येन, स मुक्तो नात्र संशयः।।

अर्थात् कुण्डलिनी सर्पवत् कुण्डली मारकर बैठी है। जो इस शक्ति को चलायमान कर देता है वह मुक्त हो जाता है। इसमें संशय नहीं है। परन्तु मैडीकल साइंस इसे मानने को तैयार नहीं है। भौतिक रूप से चीरफाड़ द्वारा सर्जन इसे ढूंढ पाने व देखने में समर्थ नहीं है। अतः संकल्प विकल्प भी चौथे शरीर द्वारा ही होते है। पशु में संकल्प-विकल्प नहीं हुआ करते। पशु को अवसाद, चिन्ता भी नहीं हुआ करती। जबकि मनुष्य चिन्तायें करता है तथा उन्हें सुलझाने के प्रयास भी करता है। कुण्डलिनी सजग हो उठती है तो वह अनेकों संभावनाओं को सजग बना देती है। फलस्वरूप मनुष्य में अमूल-आमूल परिवर्तन हो जाते है तथा सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। जिन मनुष्यों में चौथे शरीर का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, उसके शरीर में कुण्डलिनी जागरण की क्रियायें सफल नहीं हो पाती।

5. आत्मशरीर:- आत्मशरीर, स्प्रिच्युअल बोडी को अध्यात्म शरीर भी जाना जाता है। इस शरीर का विकास अट्ठाइस से पैंतीस वर्ष की आयु तक होता है। कुछ में यह सीमा कम भी देखी गई है। जिन मनुष्यों में तीसरे-चौथे शरीरों का विकास शीघ्र हो जाता है, उनके आत्मशरीर भी शीघ्र विकसित हो जाते है। परन्तु जिन मनुष्यों के प्रथम तथा द्वितीय शरीर ही विकसित नहीं हो पाते उनमें पांचवें आत्मशरीर अविकसित रह जाते हैं। आत्मज्ञान के लिये अध्यात्म शरीर का विकसित होना आवश्यक है। इससे परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग सहज हो जाता है। अतः मोक्षार्थी के लिए आत्मशरीर का विकास आवश्यक है।

6. ब्रह्म शरीर:- कोस्मिक बोडी के विकास की अवधि पैंतीस से बयालीस वर्ष की आयु मानी जाती है। पांचवें शरीर अर्थात् अध्यात्म शरीर के विकसित होने से ब्रह्मशरीर का विकास भलीभांति हो जाता है। इसके विकसित होने से ब्रह्मावस्था की प्राप्ति हो सकती है। अतः 'अहम् ब्रह्मास्मि' की भावना जाग उठती है। यही मनुष्य की परम सिद्धि है। अतः "मैं ही ब्रह्म हूँ", का मार्ग मोक्ष से भी पार परब्रह्म की प्राप्ति का सरल साधन उपलब्ध होता है। यह उन्हीं मनुष्यों में हो पाता है जिनके प्रथम से पांचवें शरीरों का विकास भलीभांति हो जाता है। अतः शरीर विकास से यौगिक

शक्तियों का सीधा सरल सम्बन्ध है।

7. निर्वाण शरीर:– जब छठे शरीर का विकास हो जाता है तब निर्वाण शरीर का विकास आरम्भ होता है। इसकी अवधि बयालीस से उन्चास वर्ष की आयु तक होती है। अत: भाव यह है कि प्रत्येक सात वर्षों में क्रमश: एक –एक शरीर का विकास होता है। सातवाँ शरीर अति सूक्ष्म होता है। यह अशरीर शरीर एकदम बोडीलेस होता है। इस शरीर में "अहं तथा ब्रह्म" दोनों में से कोई नहीं रहता, केवल मात्र शून्यता व्याप्त रहती है। इसी को निर्वाण कहते हैं।

सातों शरीरों के विकास की कोई सामान्य बात नहीं है। बहुत कम लोग ही इन शरीरों को विकसित कर पाते हैं। जो कर पाते हैं वो अपने जीवन में सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। उनके लिये अप्राप्य शेष नहीं रहता।

उक्त सातों शरीरों के विकास की अवधि उन्चास वर्षों की है। प्रत्येक शरीर जीव के प्रत्येक सोपान से सम्बन्धित है। अत: सात सीढ़ियों का यह जीवन सुनिश्चित समय पर चढ़ता रहे तो सब कुछ आसान हो जाता है। इन शरीरों का समयानुकूल विकास न होने से मनुष्यों के जीवन में अपूर्णता आ जाती है। अत: आवश्यक है प्रथम सात वर्षों तक शिशु का खूब भली भांति पालन पोषण किया जाना चाहिये। प्राय: देखा गया है कि असावधानीवश बालक के शरीर विकसित होने में कमियाँ रह जाती हैं, जिससे उनका जीवन दु:खदायी बन जाता है। अत: माता-पिता को सावधानी रखनी आवश्यक है कि कहीं बच्चा असामान्य तो नहीं है। अगर बालक का विकास रुका तो रुका ही रह जायेगा।

इसी तरह सात से चौदह वर्ष की आयु तक बच्चे में जननांगों का विकास हो जाता है। बुद्धि का विकास भी इक्कीस वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिये। अट्ठाइस वर्ष तक मानसिक विकास भी आवश्यक है। अत: मनुष्य में चारों शरीरों का विकास 25 से 30 वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिये। भविष्य शरीरों के विकास पर ही तो टिका है। इमारत की नींव पक्की हो तो मकान टिकाऊ बना रहेगा।

–अविकसित शरीरों के दुष्परिणाम–

यदि प्रारम्भिक शरीर ही अविकसित रह जायेंगे तो बाद के शरीरों का विकास भी नहीं हो पायेगा। प्रथम शरीर या स्थूल शरीर का विकास ठीक से न होने से शरीर दुर्बल, रोगी हो जायेगा। सेक्स या जननांगों का विकास भाव शरीर पर निर्भर करता है, अत: दूसरे शरीर के अविकसित रह जाने से गृहस्थ जीवन में अनेकों बाधायें आ जाती हैं। तीसरे या सूक्ष्म शरीर के विकसित न होने से बुद्धि का विकास रुक जाता है तथा बच्चा मन्द बुद्धि बन जाता है। चौथे या मनस शरीर के अविकसित रह जाने के कारण भय, आशंका, बड़ों के प्रति असम्मान, गुरु के प्रति अश्रद्धा तथा परमात्मा के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। मानसिक अशान्ति रहा करती है। मनुष्य में भय, चिन्ता, क्षोभ, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ आदि रहा करती है। चौथे शरीर के विकास के कारण ही मनुष्य शिष्य अपने गुरु से कुछ प्राप्त कर सकता है। वह अपने को गुरु के शक्तिपात से धन्य बना सकता है। गुरु की कृपा से उस शिष्य की कुण्डलिनी जागृत हो सकती है।

क्रियायोग

डा० जे. एन. राय

ठेकमा, आजमगढ़, (उ. प्र.)

क्रिया योग केसन्दर्भ में पातंजलि योगदर्शन एवं श्री मदभगवत गीता मे क्रमशः सूत्र एवं श्लोक निम्नवत् इंगित किये गये है :–

सूत्र : 2–1 तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योग :।

सूत्र : 2–49 तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेद : प्राणायाम :।

सूत्र : 2–50 बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देश काल संख्याभि :परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म :।

सूत्र : 2–51 बाह्याभ्यान्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ :।

श्लोक : 4–29 अपाने जुहति प्राणं प्राणोऽपानं तथापरे।

प्राणापान गती रूद्ध्वा प्राणायाम परायण :।।

श्लोक : 5–27–28 स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भुवो :।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यान्तर चारिणौ।।

यतेन्द्रिय मनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षरायण :।

विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स :।।

श्री श्री परमहंस योगानन्द ने 'योगी कथामृत' मे क्रियायोग का उल्लेख किया है कि क्रिया शब्द संस्कृत कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है करना, कर्म और प्रतिकर्म करना, कृ धातु से कर्म शब्द भी बना है, जिसका अर्थ है कार्य–कारण का नैसर्गिक नियम। अतः क्रियायोग का अर्थ होता है ''एक विशिष्ट कर्म या विधि (क्रिया) द्वारा अनंत परम तत्व के साथ मिलन (योग)''।

भगवान कृष्ण गीता में अर्जुन को उपदेश देते समय कहते है कि ''मैंने ही (अपने एक पूर्व अवतार मे) इस अविनाशी योग को एक प्राचीन ज्ञानी विवस्वत (सूर्य) को दिया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को और मनु ने सूर्यवंश के संस्थापक इक्ष्वाकु को दिया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस राजयोग को राजर्षियो ने जाना। किन्तु हे परंतप अर्जुन! उसके बाद यह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्त प्राय हो गया।'' आज उसी अविनाशी योग को हे परंतप अर्जुन! तुम्हें बता रहा हूँ।''

यह अविनाशी योग अर्थात् कर्म योग (क्रियायोग) को गीता के अध्याय 4 व 5 मे क्रमशः श्लोक 29 तथा श्लोक 27–28 में स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन के साधनपाद के सूत्र 1, 49, 50, 51 मे क्रियायोग (प्राणायाम) का उल्लेख किया है।

अष्टांग योग का चौथा अंग जो प्राणायाम है, उसके चार भेद 1:– अपाने जुह्वतिप्राणम् 2 – प्राणेऽपानं तथा परे 3 – प्राणापानगती रुद्ध्वा 4 – अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति बताये गये है। प्रत्येक को यज्ञ की संज्ञा दी गयी है।

योगशास्त्र में प्राण और अपान का अर्थ भिन्न है। यहां पर भीतर की वायु को बाहर निकालना 'प्राण अर्थात् रेचक कहा गया है तथा बाहर की वायु को भीतर लाना 'अपान, अर्थात् पूरक' कहा जाता है। इसी प्रकार और श्वास रोक लेना 'कुम्भक' होता है। रेचक पूरक और कुम्भक की तीनों 'क्रियायें' मिल कर प्राणायाम कहलाती है। इस प्रकार साधक अपान में प्राण का हवन करता है। यही प्राणायाम का पहला प्रकार है।

प्राणायाम का दूसरा भेद ''प्राणेऽपान तथापरे'' अर्थात् प्राण वायु (रेचक) में अपानवायु का हवन किया जाता है। इसका साधक भीतर की वायु को बलपूर्वक धीरे–धीरे खाली करता है। जितना बन सकता है उतना खाली कर सांस रोक लेता है। इसे रेचक प्राणायाम, या 'बहिकुम्भक' भी कहते है।

तीसरे प्रकार के प्राणायाम ''प्राणापान गती रुद्ध्वा'' अर्थात् प्राण और अपान की गति को कहीं पर भी रोक कर श्वास–प्रश्वास बन्द कर कुम्भक किया जाता है। चाहे अपान की गति हो रही हो या प्राण की, उसे बीच में ही रोक कर कुम्भक किया जाता है। इसे कुम्भक प्राणायाम कहते है।

चतुर्थ प्राणायाम 'अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति' में प्राणों का प्राणों में हवन किया जाता है। इस प्राणायाम में पूरक–रेचक आदि कुछ नहीं किया जाता है। बल्कि शरीर में स्थित पंचप्राण में से योगसाधना द्वारा किसी को भी पकड़ कर इसे वहीं का वहीं ठहरा देते है और अन्य प्राणों को उसमें विलीन करते है। यह चौथे प्रकार का कुम्भक है। यह सबसे कठिन प्राणायाम है। इस कठिन प्राणायाम को साधने के लिये साधक का 'नियताहार' रहना परम आवश्यक है। उपरोक्त तीनों प्राणायाम इस चतुर्थ प्राणायाम को साधने के ही उपाय है।

गीता के अध्याय 5 के श्लोक 27–28 में ध्यान योग का उल्लेख है। ध्यान योग द्वारा बाह्य विषयों (स्पर्श का अर्थ विषय) अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने नियन्त्रण में रख कर साधक अपनी दृष्टि को भौंहों के बीच केन्द्रित कर ले। फिर नाक के छिद्रो में विचरण करने वाली प्राण और अपान वायु को सम कर ले। यह भी 'प्राणायाम' है। वास्तव में नासिका में प्राण और अपान की गति विषम होती है, जिसे प्राणायाम के अभ्यास से सम किया जाता है। इससे कुम्भक स्वत: सिद्ध होता है।

महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में भगवान कृष्ण द्वारा उपदिष्ट प्राणायामों (क्रियायोग) को साधनपाद के सूत्र 1 और 49 में दर्शाया है कि ''शारीरिक तप, मनोनिग्रह तथा ओम् का ध्यान मिलकर क्रिया योग बनता है। ध्यान में सुस्पष्ट सुनायी देने वाले ओम के (तस्य वाचक: प्रणव: । योग सूत्र 1.27) ब्रह्मनाद को महर्षि पतंजलि ईश्वर कहते है। महर्षि पतंजलि दूसरी बार योग सूत्र 2.49 में (तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेद: प्राणायाम:) क्रियाप्रविधि की या प्राणायाम की चर्चा करते है ''उस प्राणायाम द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, जो श्वास और प्रश्वास के गति विच्छेद से निष्पन्न होता है।

श्री श्री परमहंस योगानन्द ने "योगी कथामृत" में क्रियायोग की प्रविधि का स्पष्ट उल्लेख न कर योगदा सत्संग सोसाइटी के अधिकृत क्रियायोगी से सीखने का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने योगी कथामृत में क्रियायोग के संकेत स्पष्ट दिये हैं कि "क्रियायोगी मन से अपनी प्राणशक्ति को मेरुदण्ड के छः चक्रों (आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार) में ऊपर–नीचे घुमाता है। ये छः चक्र विराट पुरुष के प्रतीक स्वरूप राशिचक्र की बारह राशियों के समान है। मनुष्य के सूक्ष्मग्राही मेरुदण्ड में आधे मिनट के प्राणशक्ति के ऊपर–नीचे प्रवाह से उसके क्रमविकास में सूक्ष्म प्रगति होती है। आधे मिनट की यह क्रिया एक वर्ष की स्वभाविक तौर पर होने वाली आध्यात्मिक उन्नति के बराबर होती है। फेफड़ों में बलपूर्वक श्वास को रोककर रखने का प्रयास करना अनैसर्गिक है और निश्चित रूप से कष्टकर भी। इसके विपरीत, क्रिया अभ्यास में शुरू से ही शान्ति और मेरुदण्ड में हो रहे पुनः संजीवनी प्रभाव के प्रशमनकारी संवेदन अनुभव होते हैं"। "चित्त की मग्नता श्वास की धीमी गति पर निर्भर करती है, भय, काम, क्रोध आदि हानिकारक भावावेगों की अवस्थाओं में श्वास अनिवार्य रूप से तेज या असमान गति से चलता है।"

क्रियायोग की विशिष्ट प्रविधि को महावतार बाबा ने महाशय श्यामाचरण लाहिड़ी को दिया और उन्हें निर्देशित किया कि संस्कारी लोगों को इस प्रविद्धि को सिखावें। महाशय श्यामाचरण लाहिड़ी के शिष्य स्वामी श्री युक्तेश्वर गिरि के प्रेरणा से श्री श्री परमहंस योगानन्द ने क्रियायोग के प्रविद्धि का देश–विदेश में प्रचार–प्रसार किया और योगदा सत्संग सोसाइटी आफ इण्डिया सेल्फ–रियलाइजेशन फेलोशिप संस्थायें जगह–जगह स्थापित की।

सदाशिव (नेपाल) के स्वतः प्रेरणा एवं आदेश से महाप्रभु रामलाल ने संस्कारी लोगों के कल्याण हेतु देश के विभिन्न स्थानों में छः रूपों में अवतरित हुये और योग का प्रचार–प्रसार कराया। महाप्रभु ने अपने प्रिय शिष्य योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज को योग के प्रचार–प्रसार हेतु अधिकृत किया। सद्गुरु ने सिद्ध योग प्रशिक्षण केन्द्र संवाई (एत्मादपुर) आगरा से सतत देश के कोने–कोने में श्री मद्भगवतगीता और पातंजलि योगदर्शन आधारित योग के सूक्ष्मतर सिद्धान्तों को लोगों को हृदयंगम कराते थे। सद्गुरुदेव जी दीक्षा लिये शिष्यों को मंत्र जाप और ध्यान का सतत अभ्यास करने का आदेश देते थे। श्रद्धा और वैराग्य भाव से तिथत दीर्घकालीन अभ्यास से साधक को गुरुकृपा से आसन और प्राणायाम स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

❑❑❑

> ईश्वर के विचार को अपनी चेतना में प्रथम स्थान देना जीवन संग्राम जीतने की सरलतम विधि है। अपने भीतर निवास करो, बाहरी घटनाओं से विचलित न हो। भगवत्कृपा पर विश्वास करने से सारी कठिनाइयाँ सुलझ जाती हैं। सारा जीवन ही योग है। सन्तुष्ट बने रहो और अपने हृदय की गहराई में निवास करो। शान्ति प्राप्त करने का सही एकमात्र पथ है। भूत का गौरव, वर्तमान की पीड़ा और भविष्य के सुनहरे स्वप्न जिस समाज में होते हैं, वह समाज विजगीषु रहता है।
>
> –महर्षि अरविन्द

उपनिषत्तत्त्व

प्रस्तोता : अशोक दिग्विजय

सम्पूर्ण वेद तीन भागों में विभक्त है। यथा–उपनिषद्भाग, मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग। उपनिषद्भाग वेद के ज्ञानकाण्ड का प्रकाशक है। इस मन्वन्तर में वेद की 1180 शाखाएँ आविर्भूत हुई। इतनी ही संख्या में उपनिषद्, ब्राह्मण और मन्त्रभाग भी प्रकट हुए। पुराणों और उपनिषदों में वेद की यह संख्या पायी जाती है। कलिकाल के प्रभाव से इस संख्या में से सहस्रांश भी इस समय नहीं मिलता है। उपनिषदों के तुल्य ग्रन्थ पुराणों में भी मिलते हैं। जैसे कि महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता, जो कि उपनिषदों का सार कही जाती है।

वेद अनादि है। सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे ब्रह्माण्ड में जितना वेद प्रकट हुआ है, उसकी स्थिति सदा हमारे ब्रह्मलोक में बनी रहती है। हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष में वेदों का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। सृष्टि की प्रारम्भिक दशा में महर्षियों के अन्तःकरणों में वेद ज्यों–का–त्यों सुनायी देता है, जैसे रेडियो–यन्त्र द्वारा हजारों कोसों के शब्द ज्यों–के–त्यों सुनायी देते हैं, उसी प्रकार महर्षियों के अन्तःकरणों में श्रुतियाँ अपने स्वरूप में यथावत् प्रकट होती हैं। जिन पूज्यपाद महापुरुषों के हृदयों में वेद आविर्भूत होते हैं, वे ही महर्षि कहलाते हैं। कितना ही बड़ा ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह मन्त्रद्रष्टा न होने से महर्षि नहीं कहला सकता। वेद–मन्त्रों के द्रष्टा ही ऋषि अथवा महर्षिपद–वाच्य हो सकते हैं।

शास्त्रों में ऐसा प्रमाण मिलता है कि प्रत्येक सत्ययुग में सम्पूर्ण वेदों का आविर्भाव मोक्षभूमिरूप भारतखण्डों में हुआ करता है और प्रत्येक कलियुग में वेदों का ह्रास होते–होते इस मृत्यु–लोक से वेद ब्रह्मलोक में चले जाते हैं। यही वेद के आविर्भाव और तिरोभाव का रहस्य है। वेद का स्वरूप समझने के लिये सबसे पहले देश–काल का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। वेद के साथ अनादि–अनन्तकाल और ब्रह्माण्डरूपी देश तथा ब्रह्मके सहज सत्, चित् और आनन्दभाव का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके समझे बिना वेद का स्वरूप ठीक–ठीक समझ में नहीं आता। ब्रह्मका स्व–स्वरूप त्रिभावात्मक है। इस कारण मीमांसाशास्त्र कहता है कि वेद भी तीन भावों से पूर्ण है और ब्रह्मकी स्वभावरूपिणी प्रकृति जब त्रिगुणमयी है तो शब्द–ब्रह्मरूपी वेद भी तीन गुणों से पूर्ण है। वेद त्रिभावात्मक होने के कारण वेद का मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग भी प्रत्येक त्रिभावात्मक है और उनकी प्रत्येक श्रुतिका तीन प्रकार से अर्थ होना निश्चित है। इसी कारण स्मृतिशास्त्र कहता है कि जैसे चावल, दुग्ध और शर्करा– तीनों मिलकर परम पवित्र सुमिष्ट परमान्न बनता है, वैसे ही प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होकर सब प्रकार के कल्याण का कारण होती है। अतः जबतक त्रिभाव–रहस्य और त्रिगुण–रहस्य का ज्ञान साधक को नहीं होता और जबतक शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष– ये छः वेदाङ्ग तथा न्यायदर्शन

और वैशेषिक दर्शन —ये दोनों पदार्थवाददर्शन, योगदर्शन और सांख्यदर्शन —ये दोनों सांख्यप्रवचनदर्शन और वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के तीन मीमांसादर्शन— इस प्रकार के सात वैदिक दर्शनों का अच्छी तरह से अनुशीलन साधक नहीं करता और साथ—ही—साथ भगवद् उपासना के द्वारा योगयुक्त अन्तर्मुखवृत्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक वेदार्थ समझने में साधक समर्थ नहीं होता।

उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त करने के लिये सृष्टि ज्ञान और देश—काल ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। सृष्टि के साथ जो काल का सम्बन्ध है, उसके विषय में जैसा सुन्दर, विस्तृत और अलौकिक वर्णन वेद और शास्त्रों में पाया जाता है, वैसा और कहीं देखने अथवा सुनने में नहीं आता। हमारे इस मृत्युलोक भारतवर्ष की आयु के निर्णय करने में अनेक पदार्थ—विद्या सेवी (साइंटिस्ट) विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की है। उन्होंने सृष्टिकी उत्पत्ति के विषय में, मनुष्य—सृष्टि के विषय में, वेद के आविर्भाव के विषय में और इसी प्रकार से नाना देश और नाना पर्वत आदि की सृष्टि के स्तरों के विषय में नाना कल्पनाएँ भी की हैं। किसी ने इसकी दो—चार हजार वर्षों की ही गणना की है। अब यह गणना कुछ आगे अवश्य बढ़ी है, किन्तु उसके साथ भारतवर्ष के प्राचीन सिद्धान्तों को मिलाने पर एक कौतुक—सा मालूम होता है। सनातन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में एक ब्रह्माण्ड की आयु का निर्णय करने में इस प्रकार की गणना पायी जाती है कि 100 त्रुटिका एक पर, 30 पर का एक निमेष, 18 निमेषों की एक काष्ठा, 20 काष्ठाओं की एक कला, 30 कलाओं की एक घटिका, दो घटिकाओं का एक क्षण, 30 क्षणों का एक अहोरात्र अर्थात् मनुष्य का पूरा दिन—रात होता है। इसी संख्या से मानववर्ष—गणना की जाती है। इस हिसाब से 1728000 मानववर्षों का सत्ययुग, 1296000 मानववर्षों का त्रेतायुग, 864000 वर्षों का द्वापरयुग और 432000 वर्षों का कलयुग है और 4320000 मानववर्षों का महायुग होता है। 71 महायुगों का अर्थात् 306720000 वर्षों का एक मन्वन्तर होता है और 8640000000 वर्षों का ब्रह्माका एक दिन—रात अर्थात् एक कल्प होता है।

311040000000000 मानववर्षों में एक ब्रह्मापदधारी बदल जाते हैं। 18662400000000000000 मानववर्षों में एक विष्णुपदधारी बदल जाते हैं। इसी प्रकार 4478976000000000000000000 मानववर्षों की भगवान् शिव की आयु समझी जाती है, जो ब्रह्माण्ड का प्रलय करके ब्रह्म में लय हो जाते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड —भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बा की एक त्रुटि में शिवजी के पाँच करोड़ निमेष होते हैं। इससे एक ब्रह्माण्ड के लय होने का समय निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह तात्पर्य है कि जगदम्बा की एक त्रुटि में एक ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण प्रलय हो जाता है। जैसे ब्रह्मा—विष्णु—महेशरूपी त्रिमूर्ति के प्रकट होने से पहले प्राकृतिक सृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्ड के उपादानरूपी परमाणुपुञ्जों को एकत्र करने में समय लगता है, उसी प्रकार भगवान् शिव जीवों का प्रलय करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उसके बाद भी परमाणुपुञ्जों के बिखरने में समय लगता है। सृष्टि के और प्रलय के सब कार्य जिस समय में हों, उस समय को ब्रह्माण्ड की आयु कह सकते हैं और वह ब्रह्माण्ड की आयु का काल श्री जगदम्बाकी एक त्रुटि समझी जा सकती है।

श्रीमार्कण्डेय आदि पुराणों में 14 मन्वन्तरों का संक्षिप्त वर्णन है और यह भी स्पष्ट वर्णन है कि 71 महायुगों का एक मन्वन्तर होता है प्रत्येक मन्वन्तर में देवराज इन्द्रपदधारी देवता भी कालराज मनु के साथ ही बदल जाते हैं। इस समय भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक–तीनों के बड़े–बड़े पदधारी सब देवता बदल जाते हैं। कर्म के चालक देवता, ज्ञान के चालक ऋषि और स्थूल शरीर आदि के संचालक पितृगण, जो तीनों ही तीन श्रेणी के देवता हैं, इनके जितने बड़े–बड़े पदधारी हैं, वे सब प्रत्येक मन्वन्तर में बदल जाया करते हैं। इस कारण भूः, भुवः, स्वः–इन तीनों लोकों की श्रृङ्खला और सभ्यता आदि में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तर में जो परिवर्तन होता है, वह भूः, भुवः, स्वः रूपी त्रिलोक में होता है। मन्वन्तर में कभी पूरा प्रलय नहीं होता, खण्ड–प्रलय होता है और देवपदधारी तो अवश्य ही बदल जाते हैं। ये सब बातें प्राचीन आर्यों के वेद और शास्त्रों से भली भाँति प्रमाणित हैं। इन सब काल के विभागों की संख्या के देखने पर दैवी जगत् के माननेवाले विद्वान् तो आनन्दित होते ही हैं, किंतु जो दैवी जगत्पर आस्था न भी रखते हों, वे विद्वान् भी प्राचीन आर्यों के काल के सम्बन्ध के इन हिसाबों को देखकर चकित हुए बिना न रहेंगे। उपनिषदों के देश–काल–ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रोक्त दो मतों का जानना परमावश्यक है। एक 'योगी–मत' और दूसरा 'वैष्णव–मत'। योगी–मत में–एक अद्वितीय ब्रह्म से ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है और पुनः उसी में ब्रह्माण्ड का लय हो जाता है। यह मत अद्वैतवाद का पोषक है। दूसरा मत वैष्णव–मत कहलाता है। उसके अनुसार सृष्टि प्रवाहरूप से अनादि अनन्तरूप है। ब्रह्माण्ड कितने हैं, इसकी गणना कोई नहीं कर सकता है। ऐसे अगणित ब्रह्माण्डों के बीच में एक गोलोक–धाम का होना यह मत मानता है। उस गोलोकधाम में अनन्तकोटि–ब्रह्माण्डनायक श्री कृष्णचन्द्र विराजते हैं और वहाँ रास–महोत्सव का निरन्तर होना माना जाता है। वे ये भी मानते हैं कि पूर्णावतार श्री कृष्ण ने भक्तों के ऊपर कृपा करके इस महारास–महोत्सव का नमूना व्रजगोपिकाओं को दिखाया था। ऐसे दूसरे मतवाले जब अनादि अनन्त सृष्टि–प्रवाह को मानते हैं तो स्वतः ही अद्वैतवादियों की तरह वे मुक्ति नहीं मानते हैं। उपनिषदों में अधिकतर पहले मत का और कहीं–कहीं दूसरे मतका आभास मिलता है।

जब कोई ब्रह्माण्ड प्रथम उत्पन्न होता है, तब उस ब्रह्माण्ड के परमाणुपुंज प्रकृति माता की आकर्षण शक्ति के अनुसार एकत्रित होकर जीववासोपयोगी स्थूल या सूक्ष्म लोकों को उत्पन्न करते हैं। इस समय एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठातः भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव का आविर्भाव नहीं रहता है। उस समय चाहे देवलोक समूह हो अथवा हमारा मृत्यु लोक हो, इन सबका केवल गोलक बनता है। इसी दशा को प्राकृतिक सृष्टि कहते हैं। क्योंकि ये सब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणमयी जगदम्बा के स्वाभाविक नियम के अनुसार ब्रह्माण्ड–गोलक बन जाते हैं। उस समय उनमें जीवों का वास नहीं रहता। इस विषय में पूज्यपाद प्राचीन ऋषिगण और आजकल के पदार्थविद्या (साइंस) के विद्वज्जन दोनों एकमत हैं। पदार्थ–विद्यासेवी(साइंटिस्ट) भी साधारणतः यही कहते हैं कि हमारी पृथ्वी पहले जीववासोपयोगी नहीं थी। इसी जीववासोपयोगी बनने से पहले की अवस्था का नाम 'प्राकृतिक सृष्टि' है। उसके अनन्तर सर्वशक्तिमान् भगवान् की इच्छा से जब ब्रह्मा–विष्णु–महेशरूपी त्रिमूर्ति का आविर्भाव होता है और भगवान् ब्रह्मा अपनी इच्छाशक्ति से

जीव–सृष्टि का प्रारम्भ करते है और देवसृष्टि प्रारम्भ हो जाती है, उसी को 'ब्राह्मी–सृष्टि' कहते है। उसके अनन्तर प्रजापतिगण उत्पन्न होकर विस्तृत सृष्टि को केवल अपनी मानसशक्ति से उत्पन्न करते है, वही मानस–सृष्टि' कहलाती है। यह सृष्टि भी देवताओ की ओर से ही होती है। उसके अनन्तर स्त्री–पुरूष के संयोग से जो सृष्टि होती है, वह 'बैजी–सृष्टि' है। यही चार प्रकार का सृष्टिप्रकरण है, जो प्राचीन वेद और शास्त्रों में पाया जाता है।

वेद के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग के सब मन्त्रों में यद्यपि त्रिभावात्मक तीन प्रकार के प्रयोग हो सकते है, परन्तु उपनिषदों में, जो वेद के ज्ञानकाण्ड के प्रकाशक है, इन तीन भावों का अद्‌भुत रहस्य प्रकाशित है। बृहदारण्यक आदि उपनिषदों के पाठक इसको अच्छी तरह समझ सकते है। यद्यपि इस समय केवल 108 के लगभग उपनिषद्–ग्रन्थ मिलते है। शेष सहस्त्राधिक लुप्त हो गये है, तो भी जो उपनिषद्–ग्रन्थ मिलते है, वे परमानन्दप्रद है। पंचम वेदरूपी महाभारत की श्री मद्‌भगवद्‌गीता के पाठ करने से भावुक भक्त यह समझ सकते है कि वह जिन उपनिषदों का सार कही जाती है, उनकी ज्ञान–गरिमा कैसी है? उपनिषदों के द्वारा काल–ज्ञान, चतुर्दशभुवनरूपी देश–ज्ञान, दैवी जगत् का विस्तृत ज्ञान, देवपदधारियों का ज्ञान, सब वैदिक दर्शनों का ज्ञान और कर्म का ज्ञान, जो कर्म ब्रह्म के सच्चिदानन्द भाव के त्याग का कारण होता है, उसका रहस्य तथा अन्तिम वैदिक मीमांसा का सिद्धान्त, यथा–जगत् ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही जगत् है, जीव ही ब्रह्म है इत्यादि आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण सभी सिद्धान्त मिलते है और वैदिक उपनिषदों में सब प्रकार के ज्ञान का बीज कैसे पाया जाता है। इसका दिग्दर्शन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता कराती है, जिसके महत्व के विषय में सारा संसार एकमत है। यही उपनिषत्तत्त्व है।

चेतन स्वयं ज्ञान स्वरूप है। उससे जड एवं स्वात्मा–परमात्मा का ज्ञान हो सकता है; किन्तु अपरा प्रकृति (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार) की सहायता से किसी प्रकार कही और कभी भी परमात्म तत्व का साक्षात्कार न हो सका है, न हो रहा है, न होगा। पातंजलि योग दर्शन के अनुसार धर्म–मेघ समाधि एवं ऋतम्भरा प्रज्ञः के पश्चात् निर्बीज समाधि में व्युत्थान का आवरण शेष रह जाता है। जब तक चिंतन है तब तक चित्त है, मनन है तब तक मन है, निश्चय है, तब तक बुद्धि है। जब तक हम इन सबसे पूर्णतः असंग होकर इनका पूर्ण त्याग नहीं कर देंगे तब तक उस मायातीत, करणातीत, उभयातीत, व्यक्त एवं अव्यक्त आत्मतत्त्व की नित्य प्राप्ति का अनुभव प्राप्त न हो सकेगा और न उसी की अखण्ड स्मृति में अविचल–स्थिति का लाभ ही प्राप्त हो सकेगा। वस्तुतः क्रिया से उस स्वात्मा–परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी। अक्रियता एवं कर्तव्य दोनों को तिलांजलि देकर एवं पूर्णतः असंग होकर सहजावस्था में बाहर–भीतर मौन होना होगा। तभी निर्दोष केवल आत्मतत्त्व एवं सहजावस्था की प्राप्ति होगी।

आध्यात्मिक विकास का उत्सव

दुर्गा पूजा

दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर, अलीगढ़

दुर्गा पूजा आवश्यक रूप से हम में पूर्ण ईश चेतना विकास को प्रदर्शित करती है। यह आध्यात्मिक अनुभूति के चक्र का प्रतीक है। पूर्ण ब्रह्म, माया की द्वैधता से परे, एक कठिन विषय है, क्योंकि हमारा 'मन' समय और अंतरिक्ष की सीमाओं से परिमित है। ईश चेतना की यात्रा में कमतर से लेकर महानतर सत्यता की कई परतें हैं। दुर्गा पूजा पूरी का व्यक रूप से आध्यात्मिक अनुभूति के पूर्ण क्षेत्र को घेरे हुए है।

पूर्वजों का श्राद्ध दुर्गा पूजा से 15 दिन पहले शुरू होता है और महालय तक जारी रहता है। यह उत्पत्ति संबंधी बंधन है। तब प्रथम दिन दैवीय चेतना की पूजा का आता है। ईश चेतना का प्रथम दिन प्रकृति पूजा का होता है। उदाहरण के लिए वृक्ष पवित्र समझे जाते हैं क्योंकि वे फल देते हैं। महासती की पूजा का प्रथम दिन कपित्थ के वृक्ष का सम्मान किया जाता है। इसे देवी के रहने का स्थान माना जाता है। दूसरे दिन नौ पत्तियाँ और केला के वृक्ष को पूजा के लिए रखा जाता है। एक व्यक्ति जो भूखा होता है उसके लिए भोजन भगवान होता है इसलिए प्रथम सिद्धान्त प्रकृति का पालन पोषण करना होता है।

युद्ध क्षेत्र में देवी की चार सन्तानों की उपस्थिति प्रतीकात्मक है। तीव्र बुद्धि गणेश जी द्वारा प्रदर्शित की जाती है। यह प्रकृति की पालन पोषण के रूप से होता है। इस से लक्ष्मी के रूप में धन का विकास होता है। भौतिक खुशहाली देवी सरस्वती द्वारा विद्या और ललित कलाओं से प्रदर्शित होती है फौज की बहादुरी और संरक्षणी कार्तिकेय के द्वारा प्रदर्शित होती है। देवी के चारों बच्चे सांसारिक सफलता के लिए पूजे जाते है।

चारों ओर की भौतिक खुशहाली देव–राक्षस के सिद्धान्त का अनुसरण करती है। यह दैवीय उपहार के रूप में स्वीकार की जाती है। यह अग्रिम उन्नति का पत्थर होती है जो स्वाभाविक नियम का अनुसरण करती है, लेकिन हानिकारक अहं–अज्ञानता जैसी पशुता सा होता है जो अपने आप सर्वशक्तिमान के प्रतीक के रूप में आता है– यह एकता और शान्ति के प्राकृतिक विषय को तोड़ देता है। इस आध्यात्मिक संकट के समय आदिशक्ति दुर्गा के रूप में अहं को परास्त कर देती है और अहं से समर्पण करा लेती है। यह ब्रह्माण्डीय जीवन सत्ता की व्यक्तिगत अहं पर विजय है।

अपने दस हाथों में हथियार लिए हुए और तीसरी आँख की बुद्धिमता से देवी मानव की दस अनुभूतियों से उन पर चढ़ जाती है जो अनुभूतियाँ महिषासुर के कार्यों द्वारा प्रदर्शित की जाती है। देवी दुर्गा या शक्ति ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के सिद्धान्त को प्रदर्शित करती है या ब्रह्माण्ड को पवित्र बंधन प्रदर्शित करती है।

तथ्य यहीं समाप्त नहीं होता है। दुर्गा की मूर्ति के ऊपर शिव है जो ब्रह्माण्डीय चेतना है। दुर्गा

देवी विजय के दिन शक्ति के रूप में शिव में लीन हो जाती है। इसलिए सब शक्ति शिव सागर रूपी चेतना में ही लीन हो जाती है। यह आध्यात्मिक उन्नति का परम शिखर है।

रावण को जीतने के लिए भगवान राम ने शक्ति की पूजा प्रारम्भ की। वे देवी को कमल पुष्प भेंट कर रहे थे। दैवयोग से एक पुष्प कम हो गया। श्री राम पूजा से उठ नहीं सकते थे क्योंकि पूजा पूरी होने में विघ्न हो जाता। इसलिए उन्होंने अपना नेत्र निकाल कर देवी पर चढ़ाने का निर्णय लिया, क्योंकि उन्हें कमल नयन कहते हैं। सुमित्रा नयन पंत 'राम की शक्ति पूजा' नामक कविता में कहते हैं–

जिस क्षण बन गया बेधने दृग दृढ़ निश्चय,
कांपा ब्रह्माण्ड हुआ देवी का त्वरितोदय।।

इससे सिद्ध होता है कि परम सत्ता अप्रिय कार्य को सहन नहीं कर सकती है।

शोक–संवेदना

• यह सूचित करते हुए दुःख हो रहा है कि आश्रम के वयोवृद्ध महात्मा जी श्री ज्ञानीराम का गत 3 अप्रैल को देहावसान हो गया है। वे 85–86 वर्ष के थे। उन्होंने अपने जीवन के 40–45 वर्ष आश्रम की सेवा में लगाये। सम्प्रति वे सालवन जिला करनाल में गुरुदेव के आश्रम में रह रहे थे। उनके निधन से आश्रम को बहुत क्षति हुई है। श्री गुरुदेव भगवान् उन्हें अपने चरण कमलों में स्थान दें। उनके परिवारीजनों को इस दुःखद वेला में सिद्धयोग परिवार हार्दिक संवेदना प्रेषित कर रहा है।

• दि. 4 अप्रैल को लखनऊ वासी श्री मोहन लाल अग्रवाल का देहावसान हो गया है। वे लखनऊ स्थित श्री सिद्धयोग शिक्षण संस्थान के मुख्य स्तम्भों में से एक थे। इस दुःख के समय में सिद्धयोग परिवार बहिन मंजू व आश्रम के मुख्य संचालक श्री ओमप्रकाश पालीवाल महाराज के साथ है और श्री प्रभुजी से प्रार्थना करता है कि वे दिवंगत आत्मा को सद्गति व शान्ति प्रदान करें।

स्व. ज्ञानीराम जी एवं श्री मोहनलाल जी अग्रवाल के देहान्त पर श्री सिद्धगुफा योग साधक मण्डल, कानपुर ने भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

• मार्च माह में ही हरियाणा के जीन्द निवासी श्री भँवर सिंह का देहावसान हो गया है। वे गुरुदेव के लाडले बच्चों में से थे। सिद्धयोग परिवार दिवंगत आत्मा को अपनी अभय गोद में स्थान देने की प्रभुजी से प्रार्थना करता है।

• रुड़की निवासी सुश्री विद्यावती देवी का मार्च 15 को देहावसान हो गया। वे 80 वर्ष की थी और वरिष्ठ गुरुबहिनों में से थी। उनके देहावसान पर उनके बाल–गोपालों को सिद्धयोग परिवार हार्दिक संवेदना प्रेषित कर रहा है। श्री प्रभुजी इस दुःख को सहन करने की शक्ति दें।

–सम्पादक

गुरू महिमा

प्रेषक–अंशुमानदेव मालवीय (वाराणसी)

मनुष्य जन्म बड़े ही भाग्य एवं पुण्यों के संचय से मिला है और इसका सदुपयोग करना हमारे जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है और यह लक्ष्य हमारा तभी पूरा हो सकता है जब हमें ज्ञान की प्राप्ति हो। ज्ञान हमें गुरु से मिलेगा।

वास्तव में गुरु का रूप वह होता है जो हमारा ब्रह्म से साक्षात्कार करा दे और हमारे जीवन का उद्धार करें। ऐसे गुरु इस संसार में कम होते हैं; परन्तु हम सभी गुरुभाइयों का यह सौभाग्य है कि हमें जो गुरुदेव अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक श्री सद्गुरु देव जी महाराज मिले हैं, वे हम सभी का उद्धार एवं कल्याण करने में सर्वसमर्थ हैं। क्योंकि सद्गुरू कोई शरीर रूपी मनुष्य नहीं होते हैं वह स्वयं साक्षात ब्रह्म होते हैं और सद्गुरु से बड़ा कोई तत्त्व नहीं होता है। गुरुगीता में लिखा है:–

न गुरोरधिकतत्त्वं न गुरोरधिक तपः।
गुरुज्ञानात्परं तत्त्वं तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अर्थ– गुरु से अधिक तत्त्व नहीं है न गुरु से अधिक कोई तप है गुरु से परम तत्त्व ज्ञान होता है। उन श्री गुरुदेव को नमस्कार है।

इस संसार में जिसने गुरु की शरण ली है उसका यह जीवन निश्चय ही सार्थक बन जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है। गुरुगीता में लिखा है:–

ज्ञान विज्ञान मुक्तिश्च लभ्यते गुरुभक्तितः।
गुरुः समंततो नान्यत् साध्योऽसौ गुरुमार्गिणा॥

गुरु की भक्ति से ज्ञान, विज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिये गुरु के समान अन्य कोई नहीं है गुरु मार्ग के अवलम्बन करने वाले को गुरु ही साध्य है।

गुरु की महिमा ऐसी होती है कि वह अपने शिष्य को सोने की तरह बना देते हैं जिसकी चमक इस संसार में अलौकिक होती है। गुरु उस पारस पत्थर की तरह है, जो लोहे को छूते ही सोने में बदल जाता है; परन्तु गुरु की कृपा पाने के लिये हमें गुरु के प्रति श्रद्धा एवं अटूट विश्वास रखना चाहिये। उनके बनाये सन्मार्ग पर चलना चाहिये।

गुरु का दर्जा भगवान से भी बड़ा होता है, इसलिये एक दोहा में कहा गया है:–

गुरू गोविन्द दोउ खड़े, किसके लॉगू पाय।
बलिहारी गुरुदेव की गोविन्द दियो बताय॥

इस दोहा में गुरु की महिमा भगवान से अधिक बतायी गयी है। एक साधक मनुष्य तभी बन सकता है जब सद्गुरु की शरण ले और आत्मतत्त्व को जाने और वह तभी संभव है जब मनुष्य सद्गुरु को ही एकमात्र सहायक मानकर इन्हीं की आरती पूजन एवं कृपा चरित्र का वर्णन सदैव करें। जिससे उसका जीवन सार्थक बन सके।

गुंजन

डा0 विजय सिंह

महात्मा कबीर का कथन है—

आँख न मूँदूँ, कान न रूंधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।

खुले नैन पहिचानौं हँसि–हँसि सुन्दर रूप निहारौं।।

सिद्धयोग का प्राण मन्त्र कबीर दास ने ऊपर कहा है। जिन्हें चलते–फिरते मन्त्र स्फुरण होता हो, परमात्मा सद्गुरु के तेज में शिव सूत्र विमर्श का कथन ''लोकानन्द समाधि सुखम्'' अर्थात परम सहज समाधि प्राप्त को संसार के कण–कण में परमात्मा की छवि ही दिखायी पड़ती है। धन्यभागी है। हमारे समर्थ सद्गुरुदेव, इन दीन जनों को चरण–शरण देव।

प्रभु मेरी, असमर्थता को पहचानो,
पद हुये शिथिल, तन में कम्पन।
अधीर हुआ, अब बढ़ न सकूँगा,
अपनी कृपा दृष्टि से, प्रभु कर दो पावन।।

अपने कर का सम्बल देकर,
दिखलादो मुझको मंजिल अनुपम।
देर करो मत, आरत सुनलो,
कृपा करो, अब मेरे मोहन।।

मैं अपदार्थ– अकिंचन बालक,
श्रद्धा हीन, मेरा जीवन।
मनचोर प्रेम की वर्षा कर,
प्रभु ! हरित बना दो मरूस्थल मन।।

अलौकिक उत्साह उमड़ आये,
पग उठे, तोड़ संशय बंधन।
चल पड़े, उधर जिधर जाना,
श्रद्धा का, प्रति पग, करता अभिनन्दन।।

गुरु चरणों में आने का भाव

कुन्दन लाल सचदेवा, चण्डीगढ़

1. गुरु चरणों में शरण लेने का भाव ये है कि अमूल्य दुर्लभ मानव शरीर मानव को अनेक जन्मों के पुण्यों कर्मों के फलस्वरूप ही मिला है।

2. साधक का कर्तव्य ये है कि गुरु चरणों में सच्चे मन से, पूर्ण श्रद्धा से आत्म समर्पण करे। जैसे अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण के सम्मुख किया था। साधक शिष्य गुरु चरणों में प्रार्थना करता रहे कि उसके जीवन के रथ की दिशा और दशा गुरुदेव के हाथ में बनी रहे। प्रार्थना करे:-

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा,
तेरा तुझको सौंपते क्या लागे मेरा।।

3. गुरु जी में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास की भावना रखें और उनके आदेशों का पालन करने की शपथ लें।

4. गुरु जी के स्वरूप को ही धरती पर प्रगट हुए परमात्मा का स्वरूप देखें और परमात्मा को ही अपना गुरु समझें।

5. गुरु शब्द का अर्थ है, अंधेरे को मिटाने वाला अर्थात साधक को अज्ञानता से बाहर निकाल कर ज्ञान की गंगा के पवित्र प्रसाद को प्रदान करना।

6. गुरु के आदेशों को सच्चे मन से पालन करना और गुरु मंत्र का नियमपूर्वक लगातार और श्रद्धा भाव से जाप करना।

7. गुरु चरणों में अपने सर्वस्व (तन,मन,धन) को अर्पित करना। यदि गुरु जी के लिए अपना जीवन भी देना पड़े तो खुशी से दें।

8. परमात्मा साधक के जन्म के साथ ही उसके लिए पहले से ही गुरु निर्धारित कर देता है।

9. साधक अपने माता-पिता, भाई-बहिन और सगे-सम्बन्धियों को नहीं चुन सकता, केवल परमात्मा ही यह कार्य करता है और साथ ही गुरु को भी चुन लेता है।

10. परमात्मा ही केवल एक है उससे कोई भी बड़ा नहीं है वह सबसे बड़ा है, सबसे ऊँचा है। इसी प्रकार साधक के लिए केवल एक ही गुरु निर्धारित होता है, एक बार गुरु चरण मिल जाएं तो साधक को इस पूरे जन्म में किसी और को गुरु नहीं मानना चाहिए। यह अति आवश्यक बात है जिस पर साधक को सच्चे मन से ध्यान देना चाहिए।

11. साधक गुरुजी को साधारण व्यक्ति न समझें क्योंकि गुरु ही ब्रह्म है। गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही साक्षात महेश्वर है।

12. साधक की साधना तभी प्रफुल्लित होती है जब वह सांसारिक माया से ऊपर उठ जाता है।

13. गुरु जी से हर समय यह प्रार्थना करें कि उसका काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार वे हर लें। क्योंकि ये ही सभी साधकों के मोक्ष द्वार तक पहुँचने में बाधक है।

14. गुरु ज्ञान का भाव है साधक को आत्मबोध का ज्ञान कराना जिससे कि साधक यह जान सके कि मैं क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, संसार में मुझे क्या करना है, उसका क्या लक्ष्य है।

15. हम सब परमात्मा के अंश हैं, अंश परमात्मा हम सबको जन्म देकर इस संसार में भेजता है। क्योंकि इस जन्म को पाकर ही हम दोबारा परमात्मा से जुड़ पाते हैं। भाव मुक्ति का रखते हैं। यहां तक कि देवता भी मनुष्य जन्म पाने के लिए लालायित रहते हैं जैसे– सूर्य और उसकी किरणे या समुद्र और उसकी लहरें एक दूसरे से अलग नहीं हैं वैसे ही परमात्मा भी आत्मा से अलग नहीं हैं।

16. गुरु साधक के हृदय में गुरु मंत्र की अपार शक्ति का बीज आरोपण करते हैं, जिससे साधक साधना करता है और यह जान पाता है कि वह भी परमात्मा का ही एक अंश है।

17. मनुष्य जन्म ही एक स्वर्ण धन है जिसे पाकर वह दोबारा परमात्मा के साथ मिलाप करने में सफल हो जाता है। साधक को समझ लेना चाहिए कि एक जलता हुआ दीपक ही एक बुझे हुए दीपक को जला सकता है। इसी प्रकार गुरु एक जलते हुए दीपक के समान है और साधक को अज्ञानता से निकाल कर अपनी शक्ति से परमात्मा से मिला देता है।

18. विश्वास रखना चाहिए कि गुरु चरणों में ही 68 तीर्थ हैं। गुरु जी के आदेशों का सच्चे मन से पालन करना ही गुरु भक्ति का सबसे पहला पाठ है।

19. गुरु जी हर समय साधक की रक्षा करते हैं और जीवन में आने वाली सब बाधाओं को दूर करते हैं। गुरु जी हमारी बीमारियों और दु:खों को दूर करने के लिए डॉ0 का रूप धारण कर लेते हैं।

20. साधक जब भी किसी को दान पुण्य करे, भूखे को भोजन खिलाएं, दु:खी का दुख बांटे, बीमार की सहायता करें, तो वह अपने मन में धारणा करें कि यह कार्य उसने नहीं किया यह तो सब कुछ उसके हृदय में बैठे महाराज ने ही किया है। उसे तो केवल निमित मात्र ही गुरु ने ऐसा करने का आदेश दिया है।

21. गुरु चरणों में आकर हर साधक को मन में धारणा बनानी चाहिए कि हर व्यक्ति परमात्मा का ही रूप है। साधक कभी अपने गुरु देव की निंदा न करें। ऐसा करना सबसे बड़ा पाप है। ऐसा करने वाले को पशु रूप ही समझना चाहिए। साधक बार-बार गुरु चरणों में प्रार्थना करे कि उसकी साधना तेजी से आगे बढ़े। गुरु ज्ञान गुप्त ज्ञान है। वह इन आँखों से दिखाई नहीं देता। गुरु जी तीसरे नेत्र से इस ज्ञान को देखने की शक्ति देते हैं।

22. गुरु ज्ञान पाकर ही साधक ध्यान धारणा और समाधि की सीढ़ी पर चढ़ना शुरू कर पाता है। गुरुदेव की कृपा पाकर साधक अपने मन को सांसारिक जाल में फंसे होने के कारण काबू में करने का प्रयत्न करता है। वह मन के आधीन नहीं होता। साधना से ही हम सब मन को अपने आधीन करने में सफल हो सकते हैं।

23. साधक को अपने माता-पिता की सेवा करना अपना प्रथम कर्तव्य समझना चाहिए। जैसे परमात्मा हमारा पिता है, हमारा पालन करता है, हमारी हर समय रक्षा करता है। वैसे ही संसार में माता-पिता अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं।

24. जब गुरु जी साधक के सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देते हैं, तो अपनी यथा शक्ति का भी साधक के शरीर में संचार कर देते हैं। यदि गुरु जी का लीलावसान भी हो जाए तब भी गुरु की गुरु मंत्र शक्ति साधक के साथ बनी रहती है। फिर भी दूसरा गुरु धारण न करें।

❑❑❑

जीवनमुक्त तत्वज्ञानी

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

जीवन्मुक्त मनुष्य अज्ञानी की तरह विषयों में लीन नहीं होते हैं, वरन् तत्वज्ञानियों की भाँति अनासक्तिपूर्वक विषयों का भोग करते हैं। जैसे चन्दनकाष्ठ की सुगन्ध को भृंगि, कीट आदि जन्तु नहीं जान पाते, वैसे ही जीवन्मुक्त के अन्त:करण की शीतलता को कोई नहीं जान पाता –

अन्त:शीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तव:।।

जैसे साँपों के पैरों को साँप ही जानते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त तत्वज्ञानी के स्वरूप को तत्वज्ञानी ही जानते हैं। दम्भी या ढोंगी लोग सर्वत्र अपनी तत्वज्ञता का प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो तत्वज्ञानी होते हैं, वे अपने स्वरूप को गुप्त रखते हैं। वे आत्मज्ञापन नहीं, आत्मगोपन को मूल्य देते हैं। तत्वज्ञानी पुरुषों को अपने स्वरूप या गुणों को छिपाये रखने से ही मतलब रहता है, दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति कराने से नहीं। वे वासना से शून्य, द्विधाभाव से रहित एवं अभिमान से विहीन होते हैं। दम्भियों की ख्याति बाजार में बेचने के लिए फैलायी गयी नकली चिन्तामणि की तरह होती है। मेरे गुणों को संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा दम्भियों, पाखण्डियों और अहंकारियों की होती है, जीवन्मुक्त विवेकियों की नहीं।

पूज्य दादा श्री रामाश्रय जी

बाल्यकाल से ही जिन पर बरसी गुरुदेव भगवान की कृपायें

सन् 1959 में मई के महिने की 9 तारीख को सुबह से ही भीषण गर्मी का प्रकोप शुरू हो गया था। गर्मी की तपन से बचने के लिए हर व्यक्ति शीतल स्थान पर शरण पाने के लिए बेचैन था। आगरा कैण्ट रेलवे स्टेशन की कालोनी के आवास नं. 12 के एकान्त कमरे में फर्श पर एक 14–15 वर्ष का बालक अशान्त मन होकर पड़ा था। गृहस्वामी श्री पी.बी. कंचन जी द्वारा निर्देशित कार्यों को करके वह अभी थोड़ी देर पहले ही लेटा था। काम से थक जाने के बाद उसके पास विश्राम के लिए यही समय होता था। सर्दी–गर्मी के दुःख को सहन करने वाला यह बालक अपने जीवन की निष्ठुर तपन से कहीं ज्यादा पीड़ित रहता था। छत पर टंगा तीन पंखुड़ियों का पुराना पंखा गरम हवा फेंक रहा था। गर्म हवा में बालक कभी दायें और कभी बायें करवट बदलता हुआ आँखों में नींद लाने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी मौन सिसकियों को परम पिता परमेश्वर के अतिरिक्त और कौन सुनने वाला था? उसे अपने माता–पिता के विषय में कुछ भी पता नहीं था। वे कौन हैं, कहाँ हैं? जीवित हैं भी या नहीं!

अनेक दयापूर्ण हृदय उसे पालने के लिए आगे बढ़े। बालक जैसे–जैसे बड़ा होता गया लोगों की उसमें रुचि कम होती गयी। जिसके पास भी वह रहता वहाँ उसे घर का काम करना पड़ता। कई बार उसे भूखे भी रहना पड़ता। तन पर वस्त्र न होने से ठण्ड सहनी पड़ती थी। धीरे–धीरे बालक ने घर की सफाई करना, पानी भरना, भोजन पकाना आदि काम सीख लिये। लोग रोटी–कपड़े पर उसे अपने घर में रख लिया करते और घर के सभी कार्यों में उसे लगाये रखते। लोगों की स्वार्थपूर्ति के लिए वह अनेक हाथों में हस्तान्तरित होता रहा। एक दिन अचानक इन्हीं हाथों में से एक हाथ श्री कंचन जी का भी सम्मिलित हुआ। घरेलू कार्यों के लिए उन्हें एक मेहनती बच्चे की तलाश थी। वे उसे अपने निवास कोठी नं. 12 पर आगरा कैण्ट रेलवे कॉलोनी ले आये।

प्रतिष्ठावान कायस्थ परिवार में जन्मे श्री पी.बी. कंचन जी का स्वभाव बालक के प्रति नरम था। बालक श्री कंचन जी के घर पर काफी दिन रहा। इससे पहले वह कहाँ–कहाँ रहा था, किस–किस ने उसे पाला यह उस बच्चे को याद नहीं था। उन्होंने स्वयं ही बताया था – 'मैं तो एकदम लम्पट था। अनपढ़ था। श्री कंचन जी से पहले मैं किसके यहाँ रहता था, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं है।' 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' – की मान्यता के अनुसार उसके साथ कुछ–न–कुछ ऐसी बातें हो जाया करती थीं कि मन हर समय क्लेश से पीड़ित बना रहा करता था। वह हर प्रकार से किसी प्रेमपूर्ण जीवन के आश्रय में रहना चाहता था। कई बार ऐसे अवसर आये जब बालक छिपकर सिसकियाँ भर लेता था।

आज बार–बार बालक का मन [illegible] हो रहा था। भीषण गर्मी का कष्ट सहता हुआ

बालक सोने की काफी देर से चेष्टा कर रहा था। उसके अन्तःकरण की वेदना को शायद परमपिता परमात्मा ने सुन लिया था। बालक का व्यथित चित्त अर्द्धनिद्रा में पहुँच ही रहा था कि उसने देखा कि एक स्थूल काय महापुरुष कर में छड़ी लिये उसके सिर के समीप खड़े हैं। उन्होंने बड़े प्यार से कहा – 'लल्ला ! तुम हमारे योग आश्रम श्री सिद्धगुफा चले आओ।' बालक की तत्काल आँखें खुल गयी। किन्तु भ्रम की बात समझकर वह पुनः सो गया। दो मिनट बाद वह दिव्य आकृति पुनः प्रकट हुई। वात्सल्यपूर्ण स्वर में बोले 'लल्ला ! तुम हमारे योग आश्रम चले आओ।' बालक ने इस बार भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। तीसरी बार वही दिव्य आकृति यह कहती हुई प्रकट हुई – 'लल्ला ! तुम हमारे आश्रम में शीघ्र चले आओ। तुम्हें आश्रम तक पहुँचने में कोई परेशानी नहीं होगी।'

दूसरे दिन प्रातः एक व्यक्ति घर के निकट ही खड़ा मिला। बालक ने उसी से पूछा – 'भाई साहब ! योग आश्रम कहाँ पर है?' उस व्यक्ति ने तुरन्त उत्तर दिया। 'भाई ! एत्मादपुर के निकट सवाई ग्राम में एक योगीराज जी अपना योग आश्रम चलाते हैं। मैं पता लिख देता हूँ, तुम वहाँ चले जाना।' बालक को अकेले वहाँ जाने की हिम्मत नहीं हुई। उसने एक व्यक्ति से आश्रम के लिए एक पत्र लिखवाया। 'महाराज जी, मैं आपके आश्रम में आना चाहता हूँ।' परमपूज्य श्री गुरुदेव भगवान ने पत्र पाते ही अपने पत्र द्वारा आदेश दिया – 'लल्ला ! हमारा पत्र पाते ही तुम तुरन्त चले आओ।'

पत्र प्राप्त करके बालक का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसी समय बालक के मन में तीव्र संवेग के साथ एकात्मकता बनने लगी। श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिवादि महादेवों के खुले नेत्रों से दर्शन होने लगे। इस अलौकिक घटना से उत्साहित होकर बालक अकेला ही श्री सिद्धगुफा सवाई योग आश्रम की खोज करने चल पड़ा और बिना किसी कठिनाई के वह आश्रम भी पहुँच गया। बालक ने तुरन्त अपने स्वप्न के अनुसार पूज्य गुरुदेव भगवान को पहचान लिया। श्री गुरुदेव जी भगवान आश्रम में रसोई के आगे एक छप्परनुमा टपरा के नीचे विराजमान थे। निकट ही श्री चरणों की सेवा में लगे पूज्य महात्मा श्री ज्ञानीराम बाबा जी खड़े थे। परम श्रद्धेय गुरुदेव जी ने बड़े ध्यानपूर्वक बालक को अपने निकट आते हुए देखा। एक गोल चेहरे वाला दुबला-पतला किशोर अति सामान्य वस्त्रों में चेहरे पर अतिशय भोलापन लिए श्री सद्गुरुदेव भगवान जी के सम्मुख जैसे ही पहुँचा, पूज्यश्री ने बड़े स्नेह पूर्वक प्रश्न किया – 'तुम बड़े प्यारे लगते हो, लल्ला ! कहाँ से आये हो?' बालक ने उत्तर दिया – 'आगरा कैण्ट से आया हूँ। आपने बुलाया था।' पूज्य गुरुदेव जी ने कहा कि 'तुमने बहुत अच्छा किया, लल्ला ! हमें तुम्हारी यहाँ अति आवश्यकता थी। बहुत दिनों से हम तुम्हारी प्रतीक्षा में थे।'

इसके बाद बालक परमपूज्य श्री के पावन वचनों को सुनते ही पूछने लगा – 'मुझे यहाँ क्या काम करना होगा?' स्नेहसिक्त सुमधुर वाणी में महान करुणा के सागर प्रेम सिन्धु जी बोले – 'मैं तुम्हें दीक्षा देना चाहता हूँ, लल्ला !' बालक ने दीक्षा शब्द पहले कभी नहीं सुना था। बड़ी हैरानी के साथ पूछने लगा – 'महाराज जी यह दीक्षा क्या होती है? मैं घर से कोई थैला आदि लेकर नहीं आया हूँ। अब मैं दीक्षा को किसमें लूँगा?'

भोलेपन से कही इस बात को सुनकर भक्तवत्सल श्री सद्गुरुदेव भगवान जी हँसने लगे। फिर बड़े प्यार से बालक को अपने समीप खींचते हुए कहने लगे – 'लल्ला! दीक्षा का अर्थ है कि अब तुम हमेशा के लिए हमारे हो जाओगे। तुम्हें यहाँ किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होगा। तुम यहाँ प्रेम पूर्वक अपने सभी भाइयों के साथ मिलकर रह लेना। तुम्हें आश्रम की सेवा करनी है। कैसे क्या करना है? तुम्हारे बड़े गुरुभाई तुम्हें सबकुछ समझा देंगे।' बालक ने कहा 'ठीक है महाराज जी अब मैं आपके पास ही रहूँगा।'

इसके बाद अचानक गुरुदेव भगवान जी पूछने लगे – 'अरे लल्ला, तुमने अपना नाम तो बताया ही नहीं। क्या नाम है तुम्हारा?'

बालक तुरन्त बोला – 'रामाश्रय'

'वाह लल्ला! बहुत ही प्यारा नाम है तुम्हारा। मुझे तुम्हारा यह नाम हृदय से प्रिय है।'

कुछ दिनों के पश्चात बालक की तलाश करते हुए श्री कंचन जी, श्री गुरुदेव भगवान के पत्र की सहायता से आश्रम के अन्दर प्रविष्ट हुए। परमपूज्य श्री गुरुदेव भगवान ने उनका बहुत आदर किया। भोजन की व्यवस्था कराई। गुफा के दर्शन कराये। फिर उनकी इच्छानुसार श्री रामाश्रय जी को बुलवाया। दादाजी (श्री रामाश्रयजी) ने श्री कंचन जी को प्रणाम किया। श्री कंचन जी ने उनके हालचाल पूछे। श्री रामाश्रयजी की ओर इशारा करते हुए श्री कंचन जी ने श्री गुरुदेव जी से निवेदन किया – 'महाराज जी पिछले कई माह से यह लड़का हमारे घर पर रह रहा है। मेरी प्रार्थना है कि आप इसे हमें सौंपने की कृपा करें। हमारे घर में इससे सभी को बहुत स्नेह है।'

परम पूज्य गुरुदेव जी ने अपने श्रीमुख से कहा – 'लल्ला! तुम्हारा कहना उचित है। तुम्हारा भी इस पर पूरा अधिकार बनता है। किन्तु अब तो हमने इसे ले लिया है। अब यह हमारा बच्चा है। तुम्हारी भावनानुसार यदि इसे हम तुम्हारे साथ भेज भी दें तो तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि अब यह तुम्हारे घर में टिकेगा नहीं, तुरन्त आश्रम लौट आयेगा। लल्ला! आश्रम तुम्हारा अपना घर है, जब अपने बच्चे (श्री रामाश्रयजी) से मिलने की इच्छा हो तभी निःसंकोच चले आया करो।'

परमपूज्य गुरुदेव भगवान की बात श्री कंचन जी की समझ में भलीभाँति आ चुकी थी। अतः श्री गुरुदेव जी की आज्ञा मानकर प्रेमपूर्वक अपने घर को लौट गये। किन्तु जब भी दादाजी श्री रामाश्रय जी से मिलने की उनकी इच्छा होती वे आश्रम चले आते। उनकी पत्नी व बच्चे भी लगातार पत्रों के माध्यम से दादाजी के सम्पर्क में रहे।

हमारी आत्मा व्यापक होने के लिए छटपटाती रहती है। वह चाहती है कि सारे जगत को गले लगा ले, किन्तु हम 'मेरा' और 'अपना' कहकर एक संकुचित मनोवृत्ति बनाये रखते हैं। आत्मा के सुख की तुलना में संसार का साम्राज्य कुछ भी नहीं है।

परमात्मा से अपना नाता जोड़ो

ब्र. ओमप्रकाश, लखनऊ

इस संसार में मुख्यतया दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है। प्रथम दैवीय और दूसरी आसुरी। जगत में ये ही दो प्रवृत्तियाँ व्याप्त रही हैं। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के लोगों में देवासुर संग्राम बाहर संसार में तथा मनुष्यों के शरीरों के अन्दर चलता रहता है। कभी दैवीय वृत्ति आसुरी वृत्ति पर हावी होती है तो कभी आसुरी वृत्ति दैवी पर। संसार में कुछ लोग दैवी गुणों को संपत्ति समझते हैं तो कुछ आसुरी गुणों को संम्पत्ति समझते हैं। और उन्हें बटोरने में लगे रहते हैं।

प्रकृति से नाता बनाये रखने से मनुष्य प्रकृति के सत्, रज और तम गुणों से बँधा रहता है। इन गुणों में बँधा रहना ही आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना ही दैवी प्रकृति है। इनमें दैवीय प्रकृति सात्विक है, आसुरी राजसिक है और राक्षसी तामसिक है। मनुष्यों की प्रकृति दैवी , आसुरी तथा राक्षसी इन भेदों के कारण तीन प्रकार की है। राक्षसी तथा आसुरी लगभग एक–सी है। संसार की इन दो परस्पर विरोधी धाराओं का विचार विश्व के हर धर्म में पाया जाता है। इसी को देवासुर संग्राम नाम दिया गया है। इसी को बाइबिल तथा कुरान में खुदा तथा शैतान के नाम से कहा गया है।

गीता में दैवी सम्पदा के 26 गुण निम्न प्रकार के गिनाये गये हैं। यथा –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

(गीता 16/1,2,3)

अर्थात् हे भारत ! दैवी प्रकृति के वे लोग हैं जिनमें निर्भयता अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरों के दोष न ढूंढना, प्राणियों पर दया, लोभ का न होना, स्वभाव में मृदुता, कोमलता, लज्जाशीलता, तेज क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष न होना, अत्यन्त अभिमान न होना ये सब उस व्यक्ति के गुण हैं जो दैवी सम्पत्ति लेकर संसार में जन्म लेता है। अब आगे भगवान आसुरी सम्पत्ति के कुल 6 अवगुण बताते हैं। आसुरी प्रकृति के लोगों में यह अवगुण पाये जाते हैं –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।

(गीता 16/4)

अर्थात् हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान ये छः दुर्गुण उस व्यक्ति के हैं, जो आसुरी सम्पदा लेकर संसार में जन्म लेते हैं। भगवान ने यहाँ व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में दिखाई दे रहे दो प्रकार के आधारभूत विचारों की तरफ संकेत किया है। सद्‌गुण, दैवी सम्पदा मानव की उच्च प्रकृति दूसरी तरफ है। इन्हीं दोनों में परस्पर युद्ध संघर्ष चलता रहता है शरीर और संसार में। मानव के व्यक्तिगत जीवन में भय, मलिनता, अज्ञान, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध उसे असुर बनाये रखते हैं, इनका मुकाबला करके उसे निर्भय, शुद्ध, ज्ञानी, नम्र, प्रेममय होना है। यही दिव्य गुण है। इन्हीं दिव्य गुणों को पाकर वह प्रकृति से मुक्त होकर परमात्मा की तरफ ले जाने वाली राह पर चल सकता है। मनुष्य समाज सदा इन दुर्गुणों से आक्रान्त रहता है।

इन दैवी तथा आसुरी प्रकृति के परिणाम दो हैं—मोक्ष और बन्धन। यथा—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(गीता 16/5)

दैवी संपद मोक्ष देने वाली और आसुरी संपद बन्धन में डालने वाली है। मूढ़—अज्ञानी लोग कुछ आसुरी गुणों को संपत समझते हैं और उन्हें बढ़ाने में लगे रहते हैं — दूसरे ज्ञानी—समझदार लोग दैवी गुणों को सम्पत्ति समझकर उनका संग्रह करते हैं। मनुष्य प्रकृति के गुणों से (सत्व, रज, तम) बंधा रहता है। इनमें बंधे रहने की आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना दैवी प्रकृति है। आसुरी प्रकृति का अर्थ है प्रकृति के साथ अपने को घुला मिला देना और दैवी प्रकृति का अर्थ है जीव का परमात्मा के साथ घुलमिल जाना। दैवीय प्रकृति के लोगों का स्वभाव होता है निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष का न होना, अत्यन्त अभिमान न होना और आसुरी प्रकृति के लोगों का स्वभाव होता है दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान। ये आसुरी दुर्गुण हैं।

आसुरी प्रकृति के लोग न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। उन्हें प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान नहीं। उनमें न पवित्रता पाई जाती है और न सदाचार पाया जाता है। न सत्य ही पाया जाता है। पवित्रता शारीरिक गुण है तथा सदाचार मानसिक गुण है। सत्य आध्यात्मिक गुण है। जिनके लिए भोग ही सर्वस्व है भगवान नहीं। काम, क्रोध, लोभ—ये तीन नरक में जीव को ले जाने वाले हैं। गीता ने इन प्रकृति के तीनों गुणों की गति बताते हुए कहा है — ऊपर के लोकों का सत्व गुण है। यह गुण जीव को ऊपर के लोकों में ले जाता है। मृत्यु लोक में ही जो जीवों को रखता है, वह है रजोगुण तथा अधोगति को देने वाला तमोगुण है।

इस संसार में दो प्रकार की संपद है — एक तो भौतिक प्राकृतिक संपद धन आदि तथा दूसरी है भगवान की सम्पदा राम नाम धन की। दैवी प्रकृति के लोग संसार के बन्धन से छूट जाते हैं। आसुरी प्रवृत्ति के लोग ईश्वर का तिरस्कार करते हैं व अपने को सबकुछ मानते हैं। धन—दौलत को ही ये जमा करते रहते हैं। आसुरी प्रकृति वालों के नरक में जाने के तीन दरवाजे हैं

— काम, क्रोध, लोभ। काम का अर्थ है वासना, इच्छा। विषयों के संग से कामना उत्पन्न होती है। हमारी प्रत्येक गतिविधि का मूल आधार कामना ही है। संसार का प्रवाह ही कामना के स्रोत से बह रहा है। जब कामना अवरुद्ध होती है तब वह क्रोध का रूप धारण कर लेती है। अगर कामना बिना रुकावट के पूर्ण होती जाती है तब वह लोभ का रूप धारण कर लेती है। एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार मनुष्य के मन में कामना उठती रहती है। इस प्रकार काम का एक सिरा क्रोध है तो दूसरा सिरा लोभ है। क्रोध और लोभ दोनों काम के ही दो रूप हैं।

आसुरी प्रकृति वाला व्यक्ति संसार में भगवान को न मानकर अपने 'अहम्' को 'ईश्वरोहमः' मैं ही ईश्वर हूँ, ऐसा मानता है। दैवी प्रकृति वाले भगवान को मानकर भगवान की उपासना करते हैं तथा आसुरी प्रकृति वाले संसार की उपासना करते हैं। जीव को चाहिये कि वह प्रकृति से नाता तोड़कर परमात्मा से अपना नाता जोड़े। अर्जुन को प्रकृति के इन तीनों ही गुणों का त्याग कर '**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः**' की आज्ञा देते हैं। जो व्यक्ति रजोगुण की प्रधानता में शरीर त्यागता है तो वह कर्मों में आसक्त लोगों के यहाँ जन्म लेता है। और जो व्यक्ति सत्त्व गुण की अवस्था में शरीर को त्यागता है वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

मानव शरीर में जीव भी रहता है और परमात्मा भी रहता है। परन्तु जीव तो देह में प्रकृति के गुणों से बंधा रहता है। प्रकृति के भोग को अपना भोग मानने लगता है। परमात्मा आत्म रूप से मानव शरीर में रहता हुआ भी देह से अलग द्रष्टा बना रहता है। जीव को भी द्रष्टा बनना है। जीव की मुक्ति का अर्थ यही है कि वह परमात्मा की तरह मानवदेह में रहता हुआ भी अपने को उससे (प्रकृति) से अलग समझे। जब जीव भी अपने को परमात्मा की तरह देह से अलग समझने लगता है तब वह परमात्मा के साधर्म्य में पहुँच जाता है।

मनुष्य देह का जितना भी व्यापार है वह प्रकृति कर रही है। प्रकृति ही कर्ता–भोक्ता है। आत्मा नहीं। तमोगुण मलिन है, रजोगुण पूरी तरह मलिन नहीं, कर्म करने की इच्छा रजोगुण से पैदा होती है। सत्त्व गुण निर्मल है। सत्त्व गुण का पहला दोष अहंकार, अभिमान है, दूसरा दोष शुभ कर्मों में आसक्ति आलस्य प्रमाद, नींद यह जीवों को आलस्य-प्रमाद में बाँध लेता है। रजोगुण के प्रधान लक्षण है तृष्णा तथा कर्म नाना प्रकार के कर्म करने की इच्छा, तृष्णा, लालसा से यह गुण बाँध लेते हैं। सत्त्व गुणी समझने लगता है कि उसने वह आत्म प्रसाद पाया जो किसी के पास नहीं है। यह घमंड ही सत्त्व गुणी को ले डूबता है। सत्त्व गुणी व्यक्ति शुभ गुणों में इतना आसक्त हो जाता है कि वह भी उसके सुख–दुःख के कारण बनने लगते हैं। अतः गीता का अन्तिम लक्ष्य इस सत्त्व गुण को भी जीतना है, क्योंकि यह भी प्रकृति का ही गुण है जबकि सत्त्व गुण तो उपादेय है, लेकिन अहंकार, अभिमान, घमंड इसके दोष हैं। अतः इसको भी जीतना आवश्यक है। रजोगुण से तमोगुण को जीते शारीरिक श्रम करके फिर सतोगुण के द्वारा रजोगुण पर विजय प्राप्त करें। अपनी इच्छा कामनाओं से प्रेरित कर्म न करके भगवत इच्छा से कर्म करें। स्वयं की इच्छा का त्याग करें। इस प्रकार तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्व गुण के द्वारा विजय प्राप्त करके तीनों गुणों को त्याग कर गुणातीत होना ही गीता का लक्ष्य है।

दादा गुरुदेव द्वारा पागल को ठीक करना

प्रेषक : केशवदेव उपाध्याय, वाराणसी

परम योगयोगेश्वर दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की करुणाकृपा का यह अहैतुकी कृपा प्रसंग काफी पुराना है। प्रसंग उस समय का है जब अखिल ब्रह्माण्ड नायक परम योगयोगेश्वर दादा गुरुदेव जी महाराज अमृतसर शहर के धराधाम पर सशरीर स्थूल रूप से विराजमान थे। उनके श्री चरणों में पहुँचने वाला कोई भी प्राणी चाहे जिस किसी भी कामना को लेकर गया हो, कभी भी निराश नहीं लौटा। तभी तो परम आदरणीय श्री ज्ञानी बाबा जी महाराज अपनी परम मनोहर वाणी में भजन सुनाया करते हैं कि –

गया न खाली, कोई सवाली, आकर तेरे द्वार पार तेरा पाया ना।।

एक दिन अमृतसर का बहुत ही मशहूर एवं ख्यातिप्राप्त डाक्टर, दादा गुरुदेव के पास प्रातःकाल ही पहुँच गया एवं बिना किसी अभिवादन के उसने प्रश्न किया – 'हमने क्या अपराध किया है कि आप हमारा पेशा चौपट करने पर लगे हैं।' अभी दादाजी के मुखारविन्द से कुछ शब्द निकलते कि इसके पूर्व ही उसने कहा 'मैं इस शहर का ख्यातिप्राप्त डाक्टर हूँ। हमारे यहाँ के सभी रोगी आप के पास आते हैं एवं आप उन्हें मुफ्त में ठीक कर देते हैं। अब तो हालात ऐसे हैं कि मैं सुबह से सायंकाल तक अपने दवाखाने में बैठा रहता हूँ और दो–चार से ज्यादा मरीज आते ही नहीं। मैंने जब इस रहस्य की जानकारी हासिल करना चाहा, तो पता लगा कि सभी मरीज आप के यहाँ मात्र एक या दो बार आते हैं एवं वे बिल्कुल निरोग हो जाते हैं।

जब डाक्टर अपनी बात समाप्त कर चुका तो दादा गुरुदेव ने अपने मुखारविन्द से कहा कि "डाक्टर साहब हमारे पास कोई अपने रोग निवारणार्थ आयेगा तो हम उसे मुफ्त में ही उपाय और दवा बतलायेंगे। यदि वह हमारे बताने के अनुसार कार्य करेगा, तो वह ठीक भी हो जायेगा।

अभी दादा गुरुदेव की वाणी यह रहस्य बतला ही रही थी कि वह डाक्टर क्रोध से लाल–पीला होने लगा। उसने कहा 'आप के पास डाक्टरी की कौन सी डिग्री है कि आप मरीजों का इलाज करते हैं?' जगत नियन्ता दादा गुरुदेव जी ने अपने मुखारविन्द से कहा 'डाक्टर साहब, मेरे पास कोई डाक्टरी की डिग्री नहीं है। कुछ दिन पहाड़ों में विचरण किया है, अतः वनौषधियों का हमें ज्ञान है। उसी में से जैसा विचार आया, मसाला देता हूँ एवं रोगी निरोग हो जाता है।'

आराध्यदेव की बात समाप्त होते ही उसने कहा कि मैं एक पागल लेकर आता हूँ, आप उसे मुफ्त में ठीक कर दीजिये।' अनाथनाथ मुस्कराते हुऐ डाक्टर से बोले 'पागल ही है तो क्या करेगा, वैसे ठीक होगा, तो मुफ्त में ही ठीक होगा। लाइये उस पागल को।

उपरोक्त पागल के सम्बन्ध में यह बताना विषय संगत है कि वह पागल डाक्टर के किसी हितैषी का लड़का था, जिसकी अवस्था इस समय करीब पच्चीस वर्ष की थी। जब उसकी अवस्था

18 साल की थी एवं वह स्नातक कक्षा का तीव्र बुद्धि का मेधावी छात्र था, अपनी बहिन के साथ घटित एक अप्रत्याशित घटना को सुनकर एकाएक पागल हो गया। धीरे–धीरे बहुत ही धीमी आवाज में एवं बिल्कुल ही कम बोलते हुए निष्क्रिय रहने लगा। ख्यातिप्राप्त इस डाक्टर साहब ने उसका लगातार सात वर्षों तक उपचार किया था। कोई लाभ नहीं हुआ, वरन् रोग घटने के बजाय बढ़ता ही गया। इस रोगी के रोग ने ख्यातिप्राप्त डाक्टर की प्रशंसा को बिल्कुल समाप्ति के किनारे ला दिया था। ख्यातिप्राप्त डाक्टर इसी पागल को श्रीप्रभुजी से ठीक कराना चाहता था। जब करुणासागर श्री प्रभुजी ने डाक्टर से पागल को ले आने को कहा तो वह तेजी से गया एवं पागल को दो आदमियों के साथ ले आया। पागल को ले आने की सूचना डाक्टर ने श्री प्रभुजी को दी। श्री प्रभुजी आये एवं पागल को देखकर कहा 'डाक्टर साहब इसे तो 'रावी नदी' के तट पर ले जाना पड़ेगा'। श्री प्रभुजी की वाणी सुनकर डाक्टर ने कहा, 'क्या बहाना बनाते हैं? साफ क्यों नहीं कह देते कि इसे आप ठीक नहीं कर सकते।'

श्री प्रभुजी ने कहा 'इसकी दवा तो रावी नदी के किनारे ही मिलेगी। इसे वहीं ले चलो।' पागल के साथ आये दो आदमियों, पागल एवं डाक्टर के साथ आनन्दकन्द श्री प्रभुजी भी रावी नदी तट पर पहुँच गये। वहाँ तट पर साफ स्थान देखकर श्री प्रभुजी ने पागल को चित (छाती ऊपर) लिटाने का आदेश दिया एवं फिर रावी नदी के किनारे करीब तीन फर्लांग की दूरी तक गये। वहाँ से कोई जड़ी की पत्ती तोड़ी एवं उसे मसलते हुए पागल के पास आ गये। इसके बाद डाक्टर एवं साथ वालों को कहा, 'इसे खूब अच्छी प्रकार से पकड़ लो कि दवा डालते समय यह अपनी गर्दन एवं सिर न हिला सके।'

इसके बाद श्री प्रभुजी ने जड़ी की पत्ती का दो–दो बूँद रस उसके नाक के दोनों सुराखों में डाला एवं कहा कि अब इसे छोड़ दो। छोड़ने के बाद, वह पागल व्यक्ति ज्यों ही उठकर खड़ा हुआ, उसे इतनी जोर से छींक आयी कि उसका पूरा शरीर काँप गया। एक छींक के साथ ही उसकी नाक से, एक कीड़ा जिसकी लम्बाई लगभग डेढ़ इंच तथा मोटाई दो सूत के लगभग थी बाहर निकला एवं पागल धड़ाम से बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। डाक्टर ने जब उसे होश में लाने का प्रबन्ध करना चाहा तो श्री प्रभुजी ने अपने मुखारविन्द से कहा, 'अभी आधे घण्टे तक, इसे ऐसे ही पड़ा रहने दो, उसके बाद यह स्वयं होश में आ जायेगा और बिल्कुल ठीक हो जायेगा। अब इसका पागलपन समाप्त हो गया है।' इतना कहकर श्री प्रभुजी चलकर अपने निवास स्थान पर आ गये।

दूसरे दिन वही डाक्टर फिर श्री प्रभुजी के चरणों में प्रातःकाल ही पहुँच गया, परन्तु इस बार उसका भाव पहली बार से अलग था। इस बार आते ही उसने श्री प्रभुजी के चरणों का स्पर्श कर प्रणाम किया एवं विनीत भाव से हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया। श्री प्रभुजी ने अपनी मधुर मुस्कान के साथ कहा– 'कहिये डाक्टर साहब क्या कहना चाहते हैं?'

डाक्टर साहब ने कहा, 'महाराज जी' यह तो मैं मान गया कि आपके समान कोई डाक्टर नहीं है, अब आपसे यही प्रार्थना है कि ऐसी कृपा करो कि हमारा पेशा चलता रहे। कोई सरकारी नौकरी तो है नहीं कि महिना समाप्त होते–होते मजदूरी मिल जायेगी। यदि आपने कृपा नहीं की तो बच्चों की परवरिश अच्छी प्रकार नहीं कर पाऊँगा। करुणासागर श्री प्रभुजी ने अपने मुखारविन्द

से आदेश दिया ' नित्य क्रिया से निवृत्त होकर रोज सुबह आधे घण्टे पंचाक्षरी मंत्र का जाप किया करो तथा सायंकाल अपनी कमाई का दशांश धार्मिक कार्यों एवं गरीबों को दान देने हेतु निकाल दिया करो। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारे पेशे में अवश्य–अवश्य बढ़ोत्तरी होगी।

श्रीमुख की वाणी को सिर झुकाकर डाक्टर साहब ने स्वीकार किया एवं फिर चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम निवेदित कर आशीर्वाद प्राप्त किया एवं वापस चले गये। कहा गया है कि –

'सन्त वचन पल्टे नहीं, पलट जाय ब्रह्माण्ड।'

□□□

दया दृष्टि कर ओ दाता!

जगदीश राय बंसल 'अधम'
डी.सी.एम., गोहाना

गुरु के दर का मैं पुजारी रहूँगा।
प्रभु के चरणों की मैं सेवा करूँगा।।
जो कहोगे मुझसे वही है करना
ना कभी दिल से है इंकार करना
तेरी मर्जी में सदा राजी रहूँगा।। गुरु के...
प्यार पाता रहूँ दर पे आता रहूँ जी
ये सिर तेरे चरणों में झुकाता रहूँ जी
मैं सारे जग में यही कहता फिरूंगा।। गुरु के....
दुख दे या सुख दे गुरु जी मुझको
प्यार तेरा मिल जाये हम सभी को
अगर तू सुनेगा तो मैं यही कहूँगा।। गुरु के...
आशीर्वाद मिल जाए गुरुवर तुम्हारा
ना जग में है कोई और हमारा
शीश पे चरणों को सम्हाले रहूँगा।। गुरु के....
दया की दृष्टि कर देना ओ दाता
जन्म–जन्म का है तू मेरा विधाता
झोली यूँ ही 'अधम' फैलाता रहूँगा।। गुरु के ....

आरोग्य प्राप्ति की केवल इच्छा पर्याप्त नहीं; नियमित योगासन भी अवश्य कीजिये ! (2)

पेट के बल लेटकर करने के आसन

14. मस्तक पादांगुष्ठासन

पेट के बल लेटकर, सारे शरीर को मस्तक और पैरों के अँगूठे के बल पर उठाकर कमान के सदृश शरीर को बना दे। शरीर को उठाते हुए पूरक, ठहरते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करें।

फल : मस्तक, छाती, पैर, पेट की आँतें तथा सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध, नीरोग और बलवान होती हैं। पृष्ठवंश एवं मेरुदण्ड के लिए विशेष लाभ पहुँचता है।

15. नाभ्यासन :

पेट के बल समसूत्र में लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर आगे दो हाथ की दूरी पर एक दूसरे हाथ से अच्छी तरह फैलावें, दोनों पैरों को भी दो हाथ की दूरी पर ले जाकर फैलावें। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठावें। पैरों और हाथों को एक या डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जायें, सिर और छाती को आगे की ओर उठाये रहें। जब श्वास बाहर निकालना चाहें, तब हाथों और पैरों को जमीन पर रखकर रेचक करें।

फल : नाभि की शक्ति का विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायु–गोला तथा अन्य पेट के रोगों का शमन तथा वीर्यदोष दूर होता है।

16. मयूरासन :

दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर, दोनों हाथों की कोहनियाँ नाभिस्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर सारे शरीर को उठाये रहें। पाँव जमीन पर लगे रहने से हंसासन बनता है।

फल : जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात पित्तादि दोषों को तथा पेट के रोगों गुल्म–जलन्धरादि को दूर करना और शरीर को नीरोग रखना। बस्ति तथा एनिमा के पश्चात् इसके करने से पानी तथा आँव जो पेट में रह जाते हैं, वह निकल जाते हैं, मेरुदण्ड सीधा होता है।

17. भुजंगासन (सर्पासन) :

भुजंगासन के निम्न तीन भेद किये गये है –

(क) उत्थितैकपाद भुजंगासन : पेट के बल लेटकर हाथ छाती के दोनों ओर से कोहनियों में से घुमाकर भूमि पर टिकावें, भुजंग के सदृश छाती ऊपर को उठाकर दृष्टि सामने रखें, एक पैर भूमि पर टिका रहे, दूसरा पैर घुटने को बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावें। इसी प्रकार बारी–बारी से पैरों को नीचे–ऊपर करें।

फल : इससे कटि-दोष, यकृत, प्लीहा आदि के विकार दूर होते हैं।

(ख) भुजंगासन : पैरों के पंजे उलटी ओर से भूमि पर टिकाकर हाथों को भी भूमि पर किंचित् टेढ़े रखकर धड़ को कमर से उठाकर भुजंगाकार बनावें।

फल : पेट, छाती, कमर, ऊरू, मेरुदण्ड आदि के सब विकार दूर होते हैं।

(ग) सरलहस्त भुजंगासन : हाथों को भूमि पर सीधा रखकर पैरों को पीछे की ओर ले जाकर दोनों हाथों के बीच कमर आ जाय। इस रीति से कमर झुकाकर छाती और गर्दन को भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाश की ओर देखें। इससे पेट की चरबी निकल जाती है।

फल : पेट, कमर और गर्दन के सब विकार दूर होते हैं।

18. शलभासन :

शलभ टिड्डी को कहते हैं। पेट के बल लेटकर दोनों हाथों की अँगुलियों को मुट्ठी बाँधकर कमर के पास लगावें, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिर को जमीन में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाशक्ति एक-डेढ़ हाथ की ऊंचाई पर ले जाकर ठहराये रहे। जब श्वास निकलना चाहे, तब धीरे-धीरे पैर को जमीन पर रखकर शनैः-शनैः रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैर को उठावें, फिर दोनों पैरों को उठावें।

फल : जंघा, पेट बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है। पेट की आँतें मजबूत होती हैं और सब प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

19. धनुरासन : पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों पैरों को पकड़ लेवें और शरीर को वक्र भाव से रखें। कहीं-कहीं इस आसन को वज्रासन की भाँति एड़ियों पर बैठकर पीछे की ओर झुकाकर करना बतलाया है।

फल : कोष्ठबद्धता आदि उदर के सब रोगों का दूर होना, भूख तथा जठराग्नि का प्रदीप्त होना।

(ग) बैठकर करने के आसन

20. मत्स्येन्द्रासन :

इसको पाँच भागों में विभक्त करने से सुगमता होगी -

(क) बायें पाँव का पंजा दायें पाँव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टुंडी में लगे, अँगुलियाँ पालथी के बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटने के पास, पंजा भूमि पर लगाकर रखे।

(ग) बायाँ हाथ दायें घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दायें पाँव का अँगूठा पकड़े, उस दायें पाँव के पंजे को बाहर सटाकर रखें।

(घ) दायाँ हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बायें पैर की जंघा पकड़ लें।

(ङ) मुख तथा छाती पीछे की ओर फिरा कर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखें। इसी प्रकार दूसरी ओर से भी करें।

फल : पीठ, पेट, पाँव, गला, कमर, नाभि के निचले भाग तथा छाती के स्नायुओं का अच्छा विकास होता है। जठराग्नि प्रदीप्त और पेट के सब रोग—आमवात, परिणामशूल तथा आँतों के सब रोग नष्ट होते हैं। अतिसार, संग्रहणी, रक्तविकार, कृमि श्वास, कास, वातरोग आदि दूर होकर स्वास्थ्य लाभ होता है।

21. वृश्चिकासन :

कोहनी से पंजे तक का भाग भूमि पर रखकर उसके सहारे सब शरीर को सँभालकर दीवाल के सहारे पाँव को ऊपर ले जावें, तत्पश्चात् पाँव को घुटनों से मोड़कर सिर के ऊपर रख दें।

दूसरे प्रकार से केवल पंजों के ऊपर ही सब शरीर को सँभाल कर रखने से भी यह आसन किया जाता है।

फल : हाथों और बाहों में बलवृद्धि, पेट तथा आँतों का निर्दोष होना, शरीर का फुर्तीला और हल्का होना, मेरुदण्ड का शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत एवं पाण्डु रोग आदि का दूर होना।

22. उष्ट्रासन :

वज्रासन के समान हाथों से एड़ियों को पकड़कर बैठें। पश्चात् हाथों से पाँवों को पकड़े हुए नितम्बों को उठावें। सिर पीछे पीठ की ओर झुकावें और पेट भरसक आगे की ओर निकालें।

फल : यकृत, प्लीहा, आमवात आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ नीरोग होता है।

23. सुप्त वज्रासन :

वज्रासन करके चित लेटें, सिर को जमीन से लगा हुआ रखें, पीठ के भाग को भरसक जमीन से ऊपर उठाते रखें और दोनों हाथों को बाँधकर छाती के ऊपर रखें अथवा सिर के नीचे रखें। फल : पेट, छाती, गर्दन और जंघाओं के रोगों को दूर करता है।

आसन चित्रावलि

पादांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन

पश्चिमोत्तानासन

सम्प्रसारण भू-नमनासन

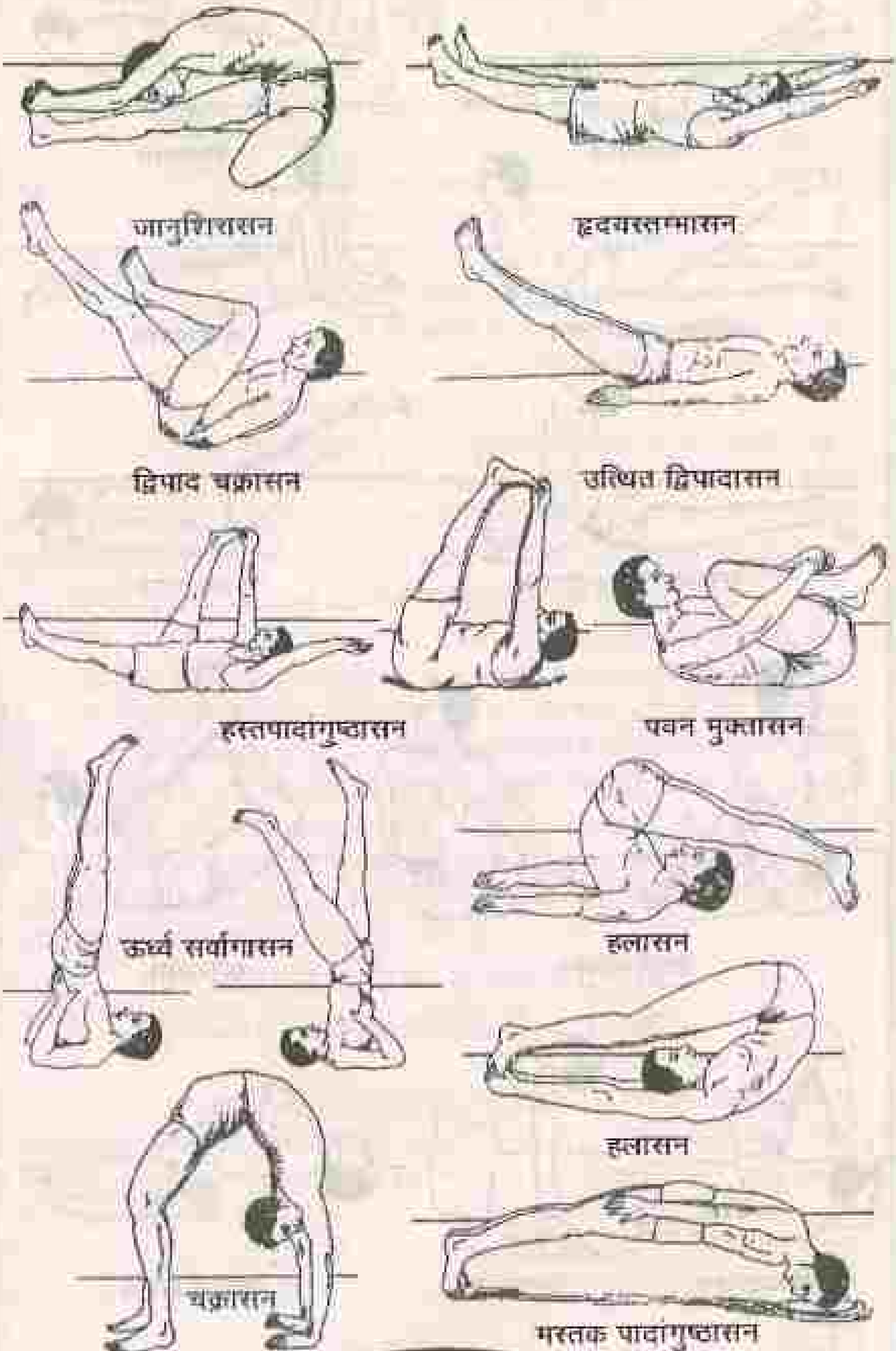
जानुशिरासन
हृदयस्तम्भासन
द्विपाद चक्रासन
उत्थित द्विपादासन
हस्तपादांगुष्ठासन
पवन मुक्तासन
ऊर्ध्व सर्वांगासन
हलासन
हलासन
चक्रासन
मस्तक पादांगुष्ठासन

नाभ्यासन

मयूरासन

उत्थित भुजंगासन

भुजंगासन

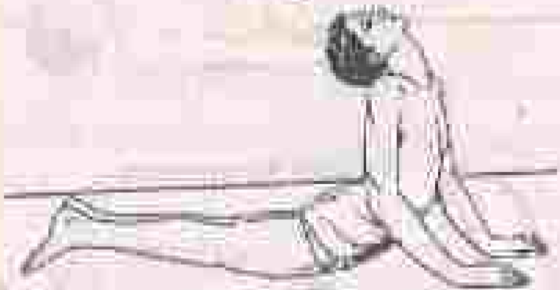
सरलहस्त भुजंगासन

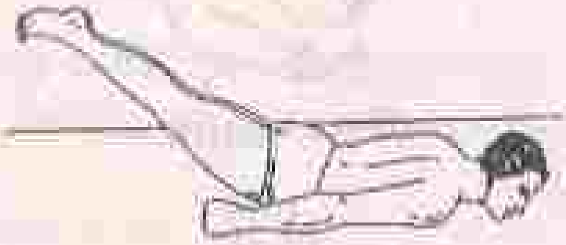
शलभासन

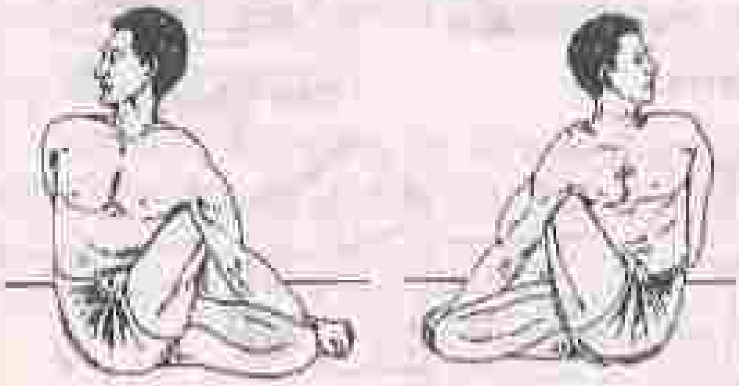
मत्स्येन्द्रासन

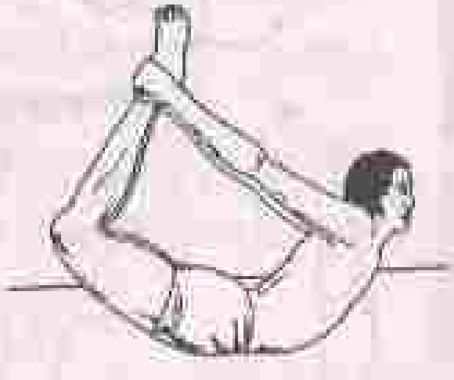
धनुरासन

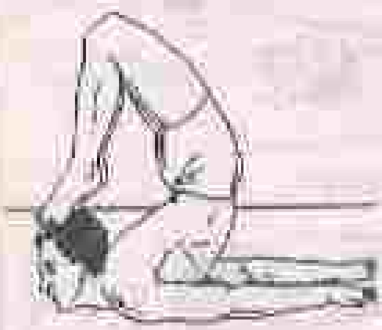
वृश्चिकासन

उष्ट्रासन

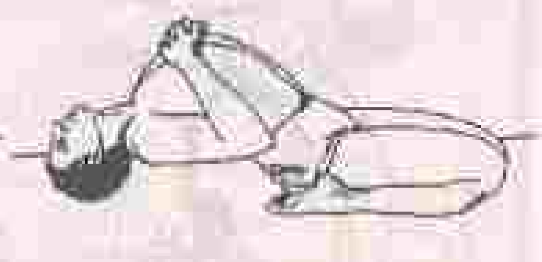
सुप्त वज्रासन

मन की शान्ति के लिए....

पुण्य कर्म के संचय से मनुष्य को जितने भी गुण तथा ऐश्वर्य उपलब्ध होते हैं, उनका उपयोग दूसरे के उपकार के लिए होता है, अपने स्वार्थ के लिए नहीं। बन्धन से मुक्त होने के लिए यह निष्कामता ही सर्वोत्तम उपाय है। वेद शास्त्रों में निर्दिष्ट कर्मों के फल की आकांक्षा छोड़कर उन्हें कर्तव्यसम्पन्नबुद्ध्या करना निष्कामता है। जिस प्रकार फल (स्वर्गादि) की कामना रखता हुआ मनुष्य कर्म करता है, उसी तरह विद्वान द्वारा "मैं" कर्तापन का अभिमान त्यागकर, केवल परोपकार से ईश्वरार्पण की बुद्धि रखते हुए कर्म करना भी निष्काम है। कर्मफल की आसक्ति का परित्याग करके वेद शास्त्र के अनुसार जो विद्वान् विहित कर्म का आचरण करता है, उसकी बुद्धि मोह कलिल से मुक्त हो जाती है और उसे निर्मल बुद्धि में समाधि स्थित होकर आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होने लगता है।

निष्काम भाव से मनुष्य की प्रज्ञा (बुद्धि) परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाती है और मनुष्य संसार के द्वन्द्व तथा संघर्ष से अतीत होकर स्थितप्रज्ञ होने लगता है। व्यक्ति मन के अधीन होकर जो कर्म करता है, वह सकाम है और मन को अपने अधीन रखकर कर्म करना निष्काम है। मनुष्य के शरीर में मन की पहचान ज्ञान तथा अज्ञान से होती है। दर्शनशास्त्र का वचन है –

आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्।

आत्मा, इन्द्रिय तथा बाह्य विषय के साथ मिलने पर विषयाकार मन में बाह्य वस्तुओं के संनिकर्ष से ज्ञान का भाव तथा अभाव होना ही मन का स्वरूप है। यहाँ आत्मा का अर्थ जीवात्मा नहीं है, अपितु प्राण–अपान, निमेष–उन्मेष, जीवन, मन की गति, इन्द्रियों का अन्तर्विकार, सुख–दुःख, इच्छा–द्वेष, प्रयत्न – ये सब उसके लक्षण हैं। लोक–परलोक में मनोरथ के विपुल भोग–ऐश्वर्य, सुख उपलब्ध कर लेने के पश्चात् भी कोई मानव संसार में पूर्ण कामतृप्त दिखलाई नहीं पड़ता। सर्वसाधारण मनुष्य से लेकर विशाल स्वर्गलोक के सुख–उपभोग करने वाले इन्द्र देवता तक भी कामभोग से अतृप्त एवं अपूर्ण रहते हैं, कारण कि मन उनके वश में नहीं है। जो मानव मन के वश में है, चाहे वह देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिए स्वर्गलोक का विशाल सुख भी अपूर्ण और फीका है –

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः।
शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्के हि च नश्यति॥

(महोपनिषद् 3/29)

दुःख–सुख का कारण यह मन ही है। जब तक मन अचल प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिल पाती। संसार में जितने प्रकार के दुःख हैं, वे सब प्रशान्त चित्त वाले मानव के समीप तक नहीं पहुँच पाते। सकाम मन में निरन्तर तृष्णा भभकती अग्नि ज्वाला के समान उभरती रहती है। तृष्णा ही हृदय व्याधि की सबसे बड़ी वेदना है। इससे आधि–व्याधि–उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं। हृदयविदारक दुःखों का अन्त एकमात्र निष्काम मन से ही सम्भव है। अतः निष्काम भाव से शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, जिससे शान्ति मिल जाये।

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag-19/06-08

MAY 2007

सिद्धयोग

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. पारसलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14568. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) पारसलाल शर्मा